खाँ साहब

तथा शरद के आठ अन्य स्केच

● ●

शरद की अन्य पुस्तकें

उपन्यास

- आंतिम वेला
- नातारिश्ता
- खून खराबी
- मिटती छाया
- आँचल का आसरा
- दादा

कहानियाँ-स्केच

- लंका महराजिन
- ममता
- कच्ची नींद
- झपकियाँ
- स्पंदन
- हमारा गांधी वापस करो !

अनु० उपन्यास

- मेरा बचपन (My childhood)
- यह दुनिया ! (In the world)
- अन्नपूर्णा (Good earth)
- नारी का रूप ((The women of the lies)
- नया वसन्त (Springtime in Saken)
- चरितनायक (A hero of our time)

अनु० कहानियाँ

- धूपछांह

जीवनियाँ

- नारी गौरव
- स्वतंत्र करने वाले

बाल साहित्य

- नेताओं की कहानी (चार भाग)
- गुलिवर की यात्राएँ (अनुवाद)
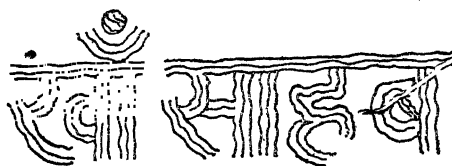
श्री ओंकार शरद

मनोरम प्रकाशन संस्थान : इलाहाबाद-१

मूल्य २॥)

प्रकाशक—मनोरम प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद—१

मुद्रक—दि इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०, इलाहाबाद—३

मेरे खाँ साहब

'लंका महराजिन' में मैंने जिस प्रकार के नए व्यक्ति-चित्रों (स्केचों) को प्रस्तुत किया था, पाठकों ने जिस उदारता से उनका स्वागत किया उसी के बल पर आज 'खाँ साहब' को आप के सम्मुख उपस्थित करने की हिम्मत पड़ी है ।

बहुत साधारण व्यक्तियों के जीवन की साधारण घटनाओं पर तनिक रंगराजी कर के इस प्रकार की कृतियों के गढ़ने की प्रथा अब हिन्दी में चल निकली है । 'खाँ साहब' से इस रास्ते में यदि थोड़ी भी आसानी हुई तो यह पुस्तक अपनी कीमत पा लेगी ।

मेरे 'खाँ साहब' इसी माध्यम से आप के दिलों की कसक चुराने में कामयाब होंगे यह आशा है ।

—लेखक

क्रम

खाँ साहब

मेरी यह राय तो बहुत पहले से ही रही है।

अगर खाँ साहब अपनी दाढ़ी के बाल न कतरवाएँ तो शायद वे और अच्छे लगें। यों अच्छे लगने की तो कोई कमी उनमें नहीं है। अच्छा खासा व्यक्तित्व ! इकहरा लम्बा बदन। स्वास्थ अच्छा, इससे देखने वालों पर एक रोब भी पड़ता था। मुसलमान तो थे, परन्तु पायजामा कभी नहीं पहना। सदा घुठने तक की बनियउटी धोती। ऊपर से एक लम्बा बंद गले का सफेद दुइसुती कोट, शायद कोट के नीचे गंजी या कमीज कुछ नहीं होती थी, ऐसा मेरा अनुमान है; क्योंकि एक दो बार जब काम काज की भीड़ में उनके कोट के चौथे या पांचवे बटन खुल जाते तो सीधे उनका दबा हुआ पेट ही दिखाई पड़ने लगता था। सिर पर वे सदा एक सफेद मलमल का साफा बाँधते जो साल में केवल तीन

चार बार ही बदला जाता था। ईद, बकरीद, होली, दशहरा। और चेहरे पर खिचड़ी बालों की दाढ़ी। सो इसी दाढ़ी के लिए हमें कुछ कहना था। ईद और होली पर उसे वे बनवा देते। ऐसा नहीं कि छुरे से साफ करा दें, बल्कि कैंची से आधी आधी छंटवा देते। जैसे किसी शौकीन के बगीचे में मेंहदी छांटी जाय, परन्तु मुझे यह अच्छा न लगता, क्योंकि जिस दिन वे दाढ़ी छंटवाते उस दिन उनका चेहरा कुछ थोड़ा-सा भयानक हो जाता था। दाढ़ी तो बिल्कुल गोल बना दी जाती, परन्तु मूँछें कुछ इस ढंग से छंटती कि बीच में बहुत छोटे बाल होते और कोनों के बाल बड़े और तलवार की तरह नुकीले।

और उस समय मैं कल्पना करता कि यदि यह दाढ़ी कटे न तो फिर बढ़ती ही जाए, बढ़ती ही जाए, और एक दिन ऐसा आए जब वह दाढ़ी लहराए, बिल्कुल वैसी ही जैसी, उत्तरी बंगाल के घास के जंगल में हवा का एक झोंका आने पर एक लहर-सी पैदा हो जाती है और हल्की हल्की लचीली घास झूम झूम कर लहरा उठती है। वैसी ही लहराती हमारे खाँ साहब की दाढ़ी! फिर तो कितना मजा आता, कितना सुहाना लगता! लहराती दाढ़ी के बीच से उनकी चिकनी नुकीली नाक कितनी शोभा देती! पर मेरे बहुत बार कहने और असंतोष प्रकट करने पर भी दाढ़ी सदा अपने समय पर बनती ही जाती।

एक बार जब काफी दिन हो चुके थे और दाढ़ी के बालों में मुलायमियत आने लगी तो हमें बड़ी खुशी हुई कि शायद खाँ साहब भूल गए हैं और क्या ही अच्छा होता कि सदा ही भूले रहते! परन्तु यह कहाँ सम्भव था! तीन दिन बाद जब सबेरे-सबेरे खाँ साहब आए तो हजामत बनी थी। देखते ही मैं जल गया। मेरे चेहरे के भावों से वे शायद समझ गए। पास आकर कंधे पर हाथ रखकर कहा, "क्यों, बाबू बुरा मानते हो न?"

"हाँ, क्यों न मानूँ! भला तुम्हें क्या मजा मिलता है, इतनी अच्छी दाढ़ी कटवाकर अपनी शक्ल बिगाड़ने में!"

"शक्ल यों नहीं बिगड़ती बाबू। और फिर कितनी बढ़ाऊ दाढ़ी भी? बुरी लगती है।"

"कौन कहता है बुरी लगती है? तुम बूढ़े हो, मौलाना हो, जितनी लम्बी सफेद दाढ़ी होगी उतनी ही अच्छी लगेगी।"

"नहीं बाबू। हर चीज की हद होती है, तादाद होती है।" यह कह बिना हमारे उत्तर की प्रतीक्षा किए ही वह उधर बगीचे की ओर चला गया और मैं सोचता रहा, "यह बूढ़ा। जाने कैसा स्वाभाव पाया है इसने!"

यह खाँ साहब मेरे पिता जी के अर्दली हैं। घर द्वार के नाम पर इन्हें खुशहाल और परिवार के नाम पर दुःखी कहा जा सकता है। हमारे यहाँ से जितनी तनख्वाह पाते हैं उसका जिक्र तो न करना ही अच्छा होगा। उसकी मात्रा इतनी कम है कि उसके जानने के बाद यह सोचना एक मजबूरी हो जायगी कि खाँ साहब बहुत ही दीन रहे हैं। परन्तु ऐसा नहीं – घर-द्वार के नाम पर उनके पास एक मकान कच्चे ईंटों का, बंगला-नुमा और चारों ओर चार बीघा जमीन! सामने तरकारी होती, अपनी अपनी फसल पर, भिन्डी, नेनुआ, लौकी, कोहड़ा और आलू, अरवी भी। और तीन ओर के खेतों में भी फसल के अनुसार, मक्का, खीरा, जौ, चना और दो क्यारियों में धान भी। यानी खाने की सभी वस्तुएं करीब करीब पैदा हो जाती थीं। हम आप सोच सकते हैं कि जरूर ही इतनी ज़मीन रखने वाला आदमी धनी होगा पर आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह चर्चा है छोटा नागपुर के एक बहुत छोटे से कस्बे की, जहाँ हर एक के पास थोड़ी बहुत जमीन होती है। हाँ, इस दृष्टि से खाँ साहब काफी अच्छे थे। काफी मर्जे से चले जा रहे थे, परन्तु परिवार के नाम पर वे काफी दुःखी थे। वे खुद और उनकी जवान बीबी,

बस यही उनका परिवार था। यह बीबी तीसरी थी, पहले दो दो शादियाँ हुई थीं, परन्तु दोनों में कोई भी खां साहब का साथ न दे पाईं। यह तीसरी ही किसी तरह चलती जा रही थी। जब कभी खां साहब की इस बीबी से खटपट हो जाती तो बहुत जी दुखने पर केवल खाँ साहब यही कहते "अरे, वे दोनों औरतें कितनी शरीफ थीं कि जल्दी ही उन्होंने हमारा पिण्ढ छोड़ दिया, लेकिन एक तू बदजात है कि अभी तक डटी हुई है।"

और तब लगता कि संताप के क्षणों में उन दो मृत पत्नियों की याद किस तरह, किस रूप में, खाँ साहब के वृद्ध हृदय को एक बार हिला देती थी!

परन्तु बहुत सोचकर, कोशिश करके भी खाँ साहब कभी इससे अधिक कुछ न कह पाते। उनकी यह बीबी और चाहे जितनी भी बुरी हो, परन्तु खेती-बारी का सारा काम वही सम्हालती थी। इससे खाँ साहब की जबान खुलनी मुश्किल रहती।

परन्तु खाँ साहब जिस कारण कभी कभी अपनी इस पत्नी से बुरा मानते वह कारण भी उचित माना जा सकता है। खाँ साहब को इससे काफी परेशानी रहती कि उनकी बीबी, औरों को तो जाने दीजिए, बूढ़े हलवाहों और खेतिहर मजदूरों को भी पसन्द न करती। उसकी दलील थी कि अगर काम लेना हो तो जवान मजदूर ही चाहिए। बूढ़े बैल पालने से क्या फायदा! बूढ़े होंगे तो छः घन्टे भी काम नहीं कर सकेंगे। एक घंटे में चार बार खैनी मलेंगे और समय बरबाद करेंगे। अपने साथ हल के बैलों को भी आलसी-कोढ़ी बना देंगे।"

और उसकी इसी दलील पर कुढ़कर खाँ साहब कहते—"अरे, मुझे न देखो, मैं भी तो बूढ़ा हूँ पर कितना काम करता हूँ। जरा पता भी है?"

"अरे तुम्हारे जैसा कोई जोधा पहलवान हो तब न! पर हमें काम लेना है। हम चाहे जैसे आदमी रखें। न पसन्द हो तो खुद देखो, अपना खेत, अपनी फसल। मुझे तो आराम ही होगा। पलंग पर चढ़ कर बैठूँगी। क्या हमें कोई बीमारी है जो दिन भर इस तरह मरती रहूँ ?"

और इसके बाद भला कहने सुनने को क्या रह जाता खाँ साहब के पास ? न तो उनमें काम कराने की हिम्मत होती न वे कुछ आगे बात बढ़ा पाते।

और इसी तह बिगड़ी मोटर की तरह रुक रुक कर जिन्दगी कट रही थी, खाँ साहब की।

खाँ साहब के बहुत निकट रहने का हमें लड़कपन से ही मौका मिलता, परन्तु तब मेरी बुद्धि इस योग्य न थी कि उनके बुढ़ापे और उनकी बीबी की जवानी के बीच की सैकड़ों फुट ऊँची दीवार, इस व्यवधान को समझ पाता। तब तो हमें दोनों ही अच्छे लगते थे। खाँ साहब प्रेम से बोलते थे, मिठाइयाँ खिलाते थे पर्व-त्योहारों पर और उनकी बीबी अपने छोटे से बगीचे से फूल तोड़ कर देतीं, अमरूद देतीं। खीरा के दिनों में खीरा खिलाती। हमारे लिए तो दोनों बहुत अच्छे थे। फिर जब मैं कुछ बड़ा हुआ तो एक भेद का पता लगा। खाँ साहब और उनकी बीबी का एकाकी जीवन संतान के लिए तरसते ही तरसते कट रहा था। खाँ साहब को लग रहा था कि यह घर, यह खेत, सब कुछ बेकार! इसका भला क्या होगा यदि कोई भोगने वाला ही नहीं है! उन्हें यह सब कुछ भी अपनी की तरह ही ठूंठ लगता। पति-पत्नी थे पर सन्तान नहीं—ठूंठ बिलकुल! जैसे कि सारा पेड़ खड़ा है, परन्तु न पत्तियाँ, न फल।

और फिर एक दिन यह भी व्यंग में मुझसे कहा गया कि खाँ साहब इसीलिए तो हमें प्यार करते हैं कि उनके कोई औलाद नहीं है।

और इसका पता तब लगा जब उस वर्ष ईद आई ? खाँ साहब ने हमें एक बढ़िया रेशमी कुरता और एक पायजामा सिलवा दिया और जब दोपहर को खाँ साहब हमें अपने कंधे पर चढ़ाकर अपने घर ले गए तब खूब खिलाया-पिलाया और शाम को घर के लिए जब मैं चला तो उनकी बीबी ने वह पायजामा और कुरता पहना दिया। और हमारे पहले के पहने हुए कपड़ों की एक गठरी हाथ में दे दी।

उस समय शायद मैं सचमुच खाँ साहब का ही लड़का मालूम होता रहा होऊँगा तभी तो जब हम घर में घुसे तो सभी ने जाने किस तरह क्रोध और उपहास-मिश्रित दृष्टि से हमें घूर कर देखा।

उस दिन मेरे उन कपड़ों को पहन लेने के कारण मेरे घर में एक अच्छा खासा हंगामा उठ खड़ा हुआ। पिता जी तो बाद में, परन्तु माँ पहले बिगड़ीं। उन्होंने साफ कहा कि यह अजातीय का संबंध अच्छा नहीं। पिता जी ने भी दूसरे दिन खाँ साहब से इन बातों की मनाही करने का निश्चय किया।

परन्तु मुझपर उसका भी अधिक प्रभाव न पड़ा—केवल इतना कि वे कपड़े उतरवा कर फिर पुराने पहना दिए गए और मैंने समझा शायद उन कपड़ों के वापस किया जायगा, परन्तु खाँ साहब को बुरा लगेगा और लोग सुनेंगे तो जगहंसाई होगी। इसलिए उन्हें वापस तो नहीं किया गया। परन्तु सन्दूक में इस तरह रखा गया कि वह तभी निकला जब मेरे एक मामा की शादी में उसे माँ ने ननिहाल के एक नोकर को भेंट किया जो छोटा-सा था और वे कपड़े उसे ठीक भी हुए थे।

और मुझे और खाँ साहब को लेकर इस तरह हमारे में सदा कलह मची रहती और वैसी ही आँधी सदा खाँ साहब के यहाँ भी उनकी बीबी उठाए रहतीं। बहुत छिपाए जाने पर भी उसे जाने किस तरह सब पता लग जाता और मौका पाकर वह खाँ साहब पर

भूखी शेरनी की तरह तड़प उठती। कहती—"जब उसके माँ-बाप नहीं चाहते तो तुम क्यों उसे इतना अपने से लगाए रहते हो ? तुम देख लेना किसी दिन तुम्हारी यही मुहब्बत तुम्हारी नौकरी भी ले कर रहेगी। जिस दिन भी उसकी माँ का दिमाग बिगड़ा कि बस......"

और बीच में ही खाँ साहब कह उठते—"चाहे जो कुछ भी हो पर मुझसे यह नहीं हो सकता कि उस लड़के को अपने से दूर रखूँ। और तू किस मुँह से कहती है, इतनी उम्र हो गई और गोद में बच्चा खिलाने की लालच पूरी न हुई ! अरे, तूने तो इतने सालों में एक चिड़ी का पूत भी नहीं पैदा किया।"

और इतना सुनते ही बीबी का क्रोध अपनी सीमा जैसे कूदकर लांघ जाता। वे कहतीं—"मैंने कुछ नहीं पैदा किया, और वे जो दो दो पहले ही यह साबित कर चुकी हैं कि तुम हमेशा ऐसे ही रहोगे..... मुझे क्यों दोष देते हो ?"

खाँ साहब इसका कुछ भी जवाब न देते और गुस्से में अपनी दाढ़ी खुजलाते हुए वहाँ से चल देते।

यानी मुझे लेकर इसी तरह हंगामा होता, आँधी तूफान और बवंडर आते।

परन्तु तब मैं काफी छोटा था। इन बातों की गहराइयों में उतरना कठिन था मेरे लिए। लेकिन आज सब याद है इससे सब कुछ समझ लेता हूँ।

इसके बाद क्या हुआ वह तो पूरी तरह याद नहीं, परन्तु कुछ ऐसा हुआ था कि मैं पढ़ाई पूरी करने इलाहाबाद चला आया था।

मेरी वकालत की पढ़ाई चल रही थी, उसी दौरान में पिता जी के पास गया तो अचानक एक शाम को जब मैं अकेला बैठा था कि खाँ साहब आए और उन्हें देखते ही मैं मुस्कुरा पड़ा, पूछा—"क्या कोई मिठाई-विठाई !"

उन्होंने कुछ खट्टे दिल से कहा—"मिठाई-विठाई तो क्या, हाँ एक सलाह लेनी है। आप वकील होने वाले हैं न!"

"हाँ, क्या बात है?" मैंने पूछा तो उन्होंने बिना किसी संकोच के अपनी दाढ़ी में पाँचो उँगली की कंघी कर के कहा—"बात यह है कि जब से मुनुआ हुआ है, मैं एक चिन्ता में पड़ गया हूँ।"

"मुनुआ?"

"हाँ, मेरा बच्चा!"

"अच्छा तो...तो...।" मुझे यह समझने में शर्म लगी।

खाँ साहब कुछ झिझके और हमें लगा कि अपनी इस झिझक को दूर हटाने में उन्हें काफी मेहनत पड़ रही है। उन्होंने अन्त में कहा—"बात यह है बाबू, कि अब मेरा मन कुछ ऐसा कहता है, जैसे मैं और ज्यादा दिन नहीं जिऊँगा। इसीलिए एक बन्दोबस्त करना चाहता हूँ।"

"काहे का बन्दोबस्त, अपनी जायदाद का?"

"हाँ, हाँ जायदाद का। मैं नहीं चाहता कि मेरी बीबी या इस मुनुआ को मेरी जायदाद का एक भी हिस्सा मिले।"

"अरे ऐसा क्यों?" मेरे मुँह से अचानक निकल पड़ा। मुझे जाने क्यों ऐसा लगा कि ठूंठ में हरियाली आई है तो यह ठूंठ ही गिर पड़ना चाहता है। जिस एक वारिस के लिए खाँ साहब यह सब करते रहे थे आज वह उसी को अपनी सम्पति का अनधिकारी बनाने की कल्पना कर रहे हैं। मैंने बात टाल जानी चाही और कहा—"हाँ, किसी और के नाम लिख दो, रहेगा, परन्तु किसी अच्छे वकील से राय लो। मैं तो अभी पढ़ ही रहा हूँ। शायद मेरी राय अभी अच्छी न हो।"

"अच्छी बात है।" कहकर खाँ साहब उठे और चले गए। अब उन्हें मुझसे उतनी दिलचस्पी न थी। अधिक बातें भी न करते, केवल

काम की चर्चा करते और कुछ खोए से, अनमने से रहा करते। उसी रात बात चली तो मैंने पिता जी से कहा कि—"यह खाँ साहब तो ऐसे रहते हैं जैसे मुझे जानते ही नहीं।" तो पिता जी ने फौरन ही कहा—"हाँ अब वह किसी बच्चे को प्यार नहीं करता।" मैंने कहा—"शायद अपने बेटे में ही बझा रहता है।"

"यही तो बात है। अपने बेटे से तो उसे जैसे घृणा हो गई है। कभी भी तो नहीं खेलाता।"

कहकर वे चुप हो गए पर मैं सोच में पड़ गया कि आखिर ऐसा क्या हो सकता है कि पराए बच्चे के लिए सब कुछ सहने वाला यह बूढ़ा अपनी इस वृद्धावस्था की लाठी को भी न प्यार करे?

मैं जितना ही सोचता उतना ही अपने आप में उलझता जाता। अतः मैंने उसपर सोचना ही छोड़ दिया।

तीन दिन बाद जिस दिन हमें वापस आना था, सुना कि खां साहब की बीबी अपने बच्चे को लेकर कहीं चली गई है।

चले जाने की बात तो उतने महत्व की नहीं मालूम हुई, परन्तु मन में फौरन प्रश्न उठा कि और कितना धन ले गई है, तो पूछताछ पर पता लगा कि और वह कुछ भी नहीं ले गई।

यह सब बात मेरे लिए समस्या बन कर रह गई। खां साहब के सामने चर्चा की, ढूँढ़ने को कहा तो वे क्रोध में गाली दे उठे। "अच्छा हुआ कि बदज़ात ने पीछा छोड़ा और अपनी कमाई अपने साथ ही लेती गई।"

उनका इशारा अवश्य ही मुनुआ की ओर था पर मुझे बुरा लगा और मैंने बात काट दी। फिर इस विषय पर कभी चर्चा भी नहीं की। वह भी इसलिए कि कुछ नई घटना घटी ही नहीं। बीबी के जाने से भी खां साहब में कोई अन्तर न आया। उन्हें तो लगा जैसे बला टली।

बाद में सुना कि अब वह खेतीबारी करते हैं और नौकरी छोड़ दी है। पर यह सुन कर भी मैंने कोई बात नहीं चलाई और मन को समझा दिया "अरे होगा भी।"

वकालत पास कर वहीं वकील बन कर पिता जी के पास रह कर ही काम शुरू किया। जब पहुँचा तभी पता लगा कि खां साहब साल भर से कहीं चले गए हैं। और यह मकान और जमीन जाने किसके नाम लिख गए हैं। ऐसा बौखल तो कहीं देखा नहीं। क्या आदमी है! सभी पास-पड़ोस वालों ने दिल की भड़ास निकालने के लिए कहा "ऐसा आदमी तो सच कहीं नहीं देखा। मुसलमान होकर धोती पहनता है। ईद और होली दोनों मनाता है। पहली बीबी मर गई तो दूसरी करते देर नहीं और दूसरी गई तो तीसरी और फिर भी औलाद नहीं। फिर भी दूसरों के बच्चों को अपना समझ कर सब कुछ लुटा देने में और खर्च करने में तनिक भी हिचक नहीं और जब तीसरी बीबी भी गई तो भी परवाह नहीं। वही मस्ती! वह बेफिक्री एक दिन भी कहीं खोजने नहीं गया और अब घर-द्वार छोड़कर खुद ही भाग गया। यह भी कोई मौज है! जैसे कोई फिट आता हो और सुना है कि यह सभी जमीन जायदाद किसी के नाम लिख गए हैं पर कौन है वह जिसे इसका मालिक बनाया है। वह भी तो साल भर से नहीं आया है एक बार भी झांकने!

यह सुन कर मैं भी सोचने लगा कि आखिर वह कौन है जो इसका हकदार है।

खां साहब के बारे में सोचकर मन एक पीड़ा से भर जाता इससे बचता था, परन्तु आज अचानक मैं फिर सोचने लगा हूँ कि जिन्दगी कितनी करवटें बदलती रहती है। आज चाय पीकर ज्यों ही दफ्तर में बैठा कि आज की कचहरी का सब काम देख लूँ तभी एक बृद्ध भीतर आया। बिना कहे-पूछे और बेधड़क कि मानो मेरे परिवार का ही कोई हो!

मैंने प्रश्न की निगाह से देखा तो लगा कि मैं इसे कहीं देख चुका हूँ पर याद नहीं आता ।

तभी उसने कहा—"पहचाना नहीं वकील साहब ने, अरे मैं...।"

लगा कि सावन की अँधियारी रात में कोई बिजली चमक गई है और मैं बीच में ही चीख पड़ा—"अरे खां साहब !"

और विश्वास करने में हमें काफी समय लगा । चेहरे की दाढ़ी साफ थी—बिलकुल नदारत । इसी से पहचाना भी नहीं था पहले देखकर ।

वह पास आकर खड़ा हो गया । मैंने पूछा—"कहाँ से आ रहे हो ?" कहाँ थे इतने दिनों तक !"

"यहीं था, और फिर बताऊँगा ।" शायद खां साहब को इतनी जल्दी में मैंने कभी नहीं देखा था—वे कहते ही गए "आज एक राय लेनी है ।"

मैंने बीच में फिर टोंका "अच्छा राय पीछे लेना । यह तो बताओ कि तुम्हारी दाढ़ी कब साफ हुई ?"

खां साहब एकाएक कह उठे—"अरे कटा दी, लोग बेकार ही दाढ़ी से बूढ़ा समझते थे । अब कुछ जवान लगता हूँ, क्यों ?"

"हाँ हाँ बहुत ।" मैंने कहा और सोचा कि काश ये अपनी पत्नी के सामने ही दाढ़ी मुड़वा कर जवान हो गए होते ! पर अधिक न सोचूँ इस लिए फिर बात बदली—"अच्छा बताओ क्या पूछना है ?"

खां साहब झेंपे और कुछ लजा-शरमा कर कहा—"बात यह है वकील साहब । इतना कह कर वे फिर झिझके, क्षण भर रुके । फिर जैसे मजबूर होकर कहा "बात यह कि सुनुआ की माँ फिर आ गई है ।"

"अच्छा, कब ?" मैंने आश्चर्य में डूब कर पूछा—"अरे बाबू सुबह का भूला शाम को आ जाए तो उसे भूला नहीं कहते न !"

"हाँ, हाँ, नहीं कहते।" मैंने हड़बड़ी में कहा।

यह सब मेरे लिए हड़बड़ी में हो रहा था कि कुछ ज्यादा सोचना समझना सम्भव नहीं था।

"तो वही खुद आगई बेचारी। अपने घर का मोह उसे खींच ही लाया और गलतियाँ किससे नहीं होती बाबू?" कह कर खां साहब ने अपनी साफ दाढ़ी पर हाथ रगड़ लिया!"

"सो तो ठीक है!" मेरे मुँह से निकला।

तभी मैंने देखा कुछ बहुत शर्माते डरते से खाँ साहब ने अपनी जेब से कोई कागज निकाला। मेरी वकील की निगाह थी—देख लिया कचहरी का 'वाटर मार्क' कागज था उस पर एक तरफ शायद टिकट भी था और कुछ मजमून भी लिखा था।

"यह क्या है?" उसकी ओर देख कर मैंने पूछ लिवा। मेरा पूछना था कि उसे जैसे डूबते को तिनके का सहारा मिला। फिर हिचक कर कहा—"बाबू वही मुनुआ की माँ आगई है। कुछ बन्दोबस्त करना है।"

"मुनुआ की माँ आगई है सोतो तुम पाँच बार कह चुके। पर क्या बन्दोबस्त करोगे? क्या जायदाद का दूसरा बन्दोबस्त।"

"हाँ, अपना खून मांस है। ऐसे कैसे होगा?" कह कर एक झटके के साथ खां साहब ने वह कागज मेरी ओर बढ़ा दिया और कहा—"जो चाहो सो करो। बस कुछ इन्तजाम करना ही होगा। वह आ जो गई है।"

खां साहब के भीतर जाने इस समय क्या तूफान उठा था कि आँधी की तरह ही वह बाहर चले गये।

मैं कागज पर से नजर हटा कर उनकी पीठ ही देखता रहा। और फिर जब कागज पर नजर फेरी तो दंग रह गया! मुझे पसीना आ गया। कागज मेरे नाम था। साल भर पहले जाते समय खां साहब ने सारी

जायदाद मेरे नाम लिख दी थी और आज आए थे कुछ मुनुआ की माँ के लिए बन्दोबस्त करने ! तो मुनुआ की माँ आ गई है। मुझे उसकी सारी जायदाद लौटा देनी चाहिये। तो इसीलिए खां साहब हिचक रहे थे।

पर मैं तो पसीने पसीने होता जा रहा था—मेरे मन में रह रह कर उसकी वही आवाज गूँज रही थी—"मुनुआ की माँ आ गई है ! मुनुआ की माँ आगई है !!"

मैं रह रह कर अपने सामने खां साहब के दो रूप देख रहा था—एक लम्बी दाढ़ी वाले बूढ़े खां साहब जो संतान हीन थे और जिन्होंने मेरे लिए पाजामा कुरता बनवाया था—

दूसरे—बिना दाढ़ी के ये अपने को जवान समझने वाले खां साहब जिन्होंने अपनी जायदाद का मालिक बनाने को हमें ही चुना।

और मैं इन दोनों के बीच कहाँ हूँ—खुद समझ नहीं पा रहा हूँ। बस मुनुआ की माँ आ गई है और मुझे आज कचहरी में खां साहब की जायदाद वापस करनी है।

कर्नल, कार्टूनिस्ट, लेखक

कर्नल दिनेश पाण्डे के नथुने फूल उठे और ओंठ फैल गए। यों दूसरों के नथुने तो क्रोध में ही फूलते देखे गए हैं, परन्तु कर्नल दिनेश पाण्डे जब बहुत खुश होते हैं, दिल से गद्‌गद् हो जाते हैं, तभी ऐसा होता है। उनकी आकृति ही कुछ ऐसी है कि दूसरे उनके क्रोध और खुशी में धोखा खा जायं। घुण्डीदार ठुड्ढी, होंठ और ठुड्ढी के बीच एक काली रेखा खींचता हुआ गड्ढा, दोनों होंठ काफी मोटे, निचली कुछ और अधिक और ऊपर में रोबीली मूंछ, किनारे कड़े, उमेठे हुए। यों शायद मूंछ के बाल मुलायम होते, परन्तु सप्ताह में उन्हें तीन बार कैंची से लड़ना-भिड़ता पड़ता है, इससे वे बेहयाई से अपनी नरमी भूलकर कड़े हो गये हैं। ऊपर कुछ अजीब लम्बी-सी फूली नाक, बिल्लियों की-सी चमकती और छोटी-छोटी आंखें। भौंहें कुछ घनी, परन्तु पतली लकीर सी

और चौड़ा माथा फिर सिर पर उलटे बाल, छोटे और कड़े। यह थी उनके चेहरे की बनावट।

देखने वाले पर रोब पड़ता था, पर क्षणिक। देखकर कुछ जल्दी ही जैसे इस व्यक्ति से पेट भर जाय, इसी तरह। बहुत देर के साथी नहीं।

सो, जब कर्नल पाण्डे हंसते तो होंठ फैलते और साथ ही जाने किस संबंध के कारण नथुने भी तनकर फूल जाते। आँखें भी कुछ फैल जातीं।

कानपुर स्टेशन से मेल छूटी तो अकारण ही जाने क्या दृश्य देखकर, या, हो सकता है, कल्पना करके ही, उन्हें अपनी आकृति बदलनी पड़ी।

सेकेण्ड क्लास के उस डिब्बे में कर्नल के अलावा एक सज्जन और थे जो कपड़ों से कोई नेता मालूम होते थे और यहीं कानपुर से सवार हुए थे। स्टेशन पर उन्हें छोड़ने सात-आठ खद्दरधारी और आए थे। परन्तु बहुत याद करके, सोचकर भी कर्नल उन्हें न पहचान पाए। इनकी तस्वीर भी कभी अखबार में नहीं देखी। तो योंही होंगे कोई 'लोकल-लीडर'! यही सोचकर कर्नल ने इस समय उनसे पिंड छुड़ाया और खिड़की के बाहर देखकर थोड़ा-सा हंसे।

जब दोबारा सिर घुमाया तो देखा कि वे नेता अपने होल्डाल को फैलाकर सामने की पूरी सीट पर अकेले हो गए थे। दीवार की तरफ मुंह करके निद्रा में खोना चाहते थे।

तभी कर्नल की दृष्टि पास रखी उनकी अटैची के ऊपर रखे अखबार पर पड़ी। अखबार भी तो नेता के साथ रहने वाली चीजों में एक महत्वपूर्ण वस्तु है!

सो, अपनी आदत के विरुद्ध वे अखबार उठाकर पढ़ने लगे। और प्रथम शीर्षक देखकर ही जैसे उनके विचारों में एक 'ब्रेक', एक विराम, लग गया। खबर थी—

"शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए हिन्द और पाकिस्तान सरकार की सामूहिक मन्त्रणा।"

पढ़कर एक खट्टी घूंट-सी गले के नीचे उतरी और नेता तथा अन्य विचारों से अपना दिमाग हटा लेने के लिए कर्नल के लिए यह काफी था। इस प्रकार के अखबारी प्रचार से उन्हें गुस्सा आता था। अभी वह नोआखाली में सब देख चुके हैं, पंजाब में भी दो महीने रहना पड़ा।

कर्नल का दिमाग चक्कर खाने लगा—वे अरब, ईरान, इटली, फ्रांस सब हो आए हैं, वहां लड़े हैं, परन्तु यह नोआखाली, यह पंजाब। यह क्या? यहां की कैसी लड़ाई?

जो आदमी महायुद्ध का अनुभव प्राप्त कर लेता है उसे छोटे-मोटे दंगल की बातें क्या समझ में आएं!

कर्नल पाण्डे सोच रहे थे। इस लड़ाई में न तो बम गिरते हैं, न गोली छूटती है, न कोई सामूहिक तैयारी होती है। बस आपस के मनमुटाव की ही जरूरत पड़ती है और छुरे और डण्डे ही सब काम करते हैं। बहुत बड़े पैमाने पर कुछ किया तो एक आध घर में आग लगा दी और प्रकृति ने अगर कृपा कर दी तब एक आध गांव साफ। और यही नहीं, एक काम और होता है औरतों को लूटा-छीना जाता है। जैसे उनमें जान नहीं। घर से एक संदूक लूट के, छीन के ले जाएं या एक औरत! लूटने वालों को इससे ज्यादा कुछ पता नहीं लगता। मां-बहन कहलाने वाली औरतों की इज्जत की न कीमत है न उनके शरीर को कुत्सित करने में कोई हिचक! हाय रे सभ्यता! हाय री लाज!

और इन्हीं लोगों के बीच, तूफानों के बीच से, कर्नल पांडे आ रहे थे। नोआखाली का प्रबन्ध करके बाद वे पंजाब में भी रहे। पंजाब की घटनाएं तो नोआखाली से अधिक भयावनी, डरावनी थीं। और यही सोचते-सोचते कर्नल अपने विषय में सोचने लगे।.....विमाता की

ताड़ना—प्रताड़ना से ऊबकर पिता ने उन्हें गांव से शहर भेज दिया था। शहर में ही, पहले तो अपनी मौसी के यहाँ रहकर पढ़े, फिर बाद में मौसी की दूसरे शहर बदली हो जाने पर होस्टल में रहना पड़ा। वहाँ परिवार से दूर रहकर जाने क्यों उनके मन में सदा एक अजीब-सा संघर्ष मचा रहता था। मन में एक प्रेम, परिवार के प्रति आकर्षण मालूम होता था, साथ ही अपने लिए परिवार के द्वार बन्द देख कर उसमें एक विद्रोह भी जागृत होता था।

यों तो उन्हें अपना जीवन बहुत सूना-सूना और ऐसा लगता था मानो उनमें कोई चाव नहीं, आकर्षण नहीं। विरक्ति की भावना ने ही शायद दीनू को—दिनेश पांडे को—फौज के प्रति आकर्षित किया था।

उसके बाद की घटनाएं तो कर्नल पांडे अधिक याद नहीं कर पाए, न उन पर अधिक माथापच्ची ही की। बस इतना ही याद है कि तब कर्नल पाण्डे सिर्फ २० वर्ष के थे और गांव में उनकी शादी की चर्चा उनके पिता ने चलाई थी। दशहरे की छुट्टी में गांव जाकर उन्हें यह सूचना मिली कि पिता जी किसी अच्छे खानदान से सम्बन्ध जोड़ रहे हैं। कर्नल को उस समय लगा था कि यह उनकी शक्ति से अधिक बोझ ही उन पर रखा जा रहा था। उन्होंने विवाह का विरोध किया परन्तु पिता ने अपना और परिवार का हक बताकर दिनेश का मुंह बन्द कर देना चाहा। उस समय दिनेश ने चुप रहना ही उचित समझा और यह कह कर टाल दिया कि इस बार बी० ए० की परीक्षा के बाद जब गर्मियों की छुट्टियों में आवेंगे तब देखा जायगा।

पिता जी को इस पर विरोध नहीं था और दिनेश पाण्डे यों चकमा देकर फिर शहर आ गए थे।

और फिर अचानक, बिना किसी को सूचना दिए ही, उधर बी० ए० परीक्षा समाप्त हुई, इधर दिनेश ने फौजी भरती के डाक्टर से डाक्टरी

परीक्षा में पास होने का सार्टीफिकेट लिया और ट्रेनिंग के लिए अम्बाला का रेलवे पास प्राप्त कर लिया।

पिता को, मित्रों को, किसी को भी कानों कान खबर न दी।

पिता के पत्र होस्टल जाते और भटक कर रह जाते। अन्त में ऊबकर जब उन्होंने आदमी भेजा - खोज खबर लेने को, तो केवल इतना पता लगा कि दिनेश साहब का विचार इम्तहान के बाद पहाड़ जाने का था, सो, कहीं सैर को गए हैं।

"सैर को जाने को मना किसने किया था? लेकिन खबर तो देनी चाहिए थी।" बिगड़कर पिता ने कहा, परन्तु उनको इसका उत्तर कौन दे?

पहले तो कुछ महीनों पिता ने पहाड़ से बेटे के लौटने का इन्तजार किया, परन्तु साल पूरा होते-होते उन्होंने उसकी उम्मीद छोड़ दी।

फिर तो दो साल तक, जब तक दिनेश पाण्डे को कमीशन नहीं मिला, किसी को उनकी खबर न लगी।

जब प्रथम महायुद्ध में वे बंबई से फ्रांस के लिए रवाना हुए तब एक पोस्टकार्ड पिता जी के पास भेजा था—अपनी प्रगति के सूचनापत्र के रूप में!

पत्र पाकर पिता को सिर्फ इतना लगा था जैसे चिड़िया हाथ से निकल गई! बेटे के ब्याह की मुराद मन में दफन हो गई। दहेज, टीका में मिलने वाली धन-दौलत के प्रति ऐसा भाव जागा जैसा कि अँगूर खट्टे निकलने पर मन में होता है।

और शादी करके गृहस्थी के पथ पर न चलने के लिए ही दिनेश पाण्डे ने यह रास्ता चुना था।

इस घटना को पूरे चौंतीस साल हो गए।

तब सन् १९१४ की सांझ थी जब दिनेश पाण्डे ने रंगरूट के रूप में फ्रांस की यात्रा की थी। और यह आज सन् १९४८ की दोपहर है

जब कर्नल पाण्डे छुट्टी लेकर घर, अपने गाँव आ रहे हैं। इसके पूर्व भी कर्नल दो बार गाँव आ चुके हैं। एक बार पिता की मृत्यु पर—तब कर्नल नहीं थे—और एक बार यही सिर्फ साल भर पर पहले, जब मलाया से लौटे थे—युद्ध की समाप्ति पर। परन्तु दोनों बार में एक बार भी दो दिन से ज्यादा गाँव मे न रह पाए थे। अपने पिता के पुरोहित गंगई महाराज को घर-द्वार सौंपकर देख-भाल करते रहने की ताकीद की थी और मेहनताने के लिए घर में फैलकर रहने की इजाजत दी थी। साथ ही २० रु० मासिक भेजते जाते थे।

कर्नल जब पहली बार आए थे तब तो गाँव में उनकी इतनी अधिक पूछ नहीं हुई थी। गाँव के मुखिया, पुरखे उनकी इस कृति पर बुरा माने बैठे थे। उनकी समझ में फौजियों का कोई जीवन नहीं। परन्तु जब दूसरी बार गाँव आए थे तो कर्नल हो चुके थे। तनख्वाह लम्बी थी। रुपए की चमक का असर पड़ा था लोगों पर। फिर गंगई महाराज जैसा कनवेसर भी मिल गया था जो उनकी गुण-गाथा गा . गाकर उनकी मर्यादा बढ़ा रहा था। दूसरे गाँव की युवक-मण्डली तो उनके रोब से दब-सी गई थी। कर्नल ने फ्रांस और इटली के मेमों के किस्से सुनाए। होटल में खाने की चर्चा की और सब से अधिक तो उस बहादुरी के तरीके बताए जिससे जहाज पर से बम फेंक कर पूरा गाँव साफ किया जा सकता है। अब गाँव का वृद्ध-समाज भी दिनेश के यश और कीर्ति के आगे अपनी आलोचना को तूती की आवाज समझकर स्थगित कर चुका था।

और इस प्रकार कर्नल पाण्डे सचमुच इस बार गाँव में अधिक रहने की इच्छा से आ रहे थे।

जब उनकी गाड़ी गाँव के निकटतम स्टेशन पर रुकी तो शाम हो चुकी थी। स्टेशन से गाँव तेरह मील था। पक्की सड़क है, जिस पर बैलगाड़ी

और इक्के चलते हैं। पिछले सात साल से बस भी चलने लगी है, परन्तु कर्नल ने बस से न जाकर बस के मालिक से उनकी टैक्सी मोटर एक महीने के लिए किराए पर तय की और उसी पर गाँव चले।

शाम हो ही गई थी, फिर भी मोटर के अड्डे पर ही यात्रियों के बीच अपने कर्नल के व्यक्तित्व को पहचानने में गंगई ने तनिक भी देरी और भूल नहीं की। लपक कर पास जा पहुँचा और—"सलाम, करनैल मालिक !" कह कर स्वागत किया।

होंठ फैलाकर और पुनः नथुने फुला कर कर्नल दिनेश पाण्डे ने गंगई की स्वामिभक्ति पर खुशी जाहिर की और कहा—"हमने तो बस के सेठ से उसकी टैक्सी ले ली। उसका ड्राइवर नहीं है, इससे खुद ही चला लूँगा, चलो उसी मोटर पर ! वहाँ खड़ी है।"

गंगई ने खीस निपोर कर कहा—"भलै कीन्हौं सरकार ! नहीं तोहका लारी माँ तकलीफौ होत ! अइसे मैं दुइ सीट आगे की खाली रखे का डराइवर से कह दीन्हे हौं। मुला टैक्सी माँ जल्दी पहुँचौ जइहौ। ई सार ड्राइवर तो हर थाना पर घण्टा-घण्टा भर ठाढ़ कर देत है। सो नीकै कीन्हेव सरकार।"

और जब बगल की सीट पर गंगई को बैठा कर कर्नल ने मोटर स्टार्ट की तो ठण्डी हवा ने एक बार कर्नल के फिर गाँव की याद दिला दी। कर्नल कुछ कहने ही जा रहे थे कि गंगई ने गद्‌गद् कण्ठ से कहा—"कहौ करनैल मालिक, ई मोटर लौटी कैसे ? डराइवर तो वा नहीं।"

"अरे इसको तो महीने भर को ले लिया है किराये पर।"

सुनकर जैसे गंगई कुछ सोच में पड़ गए। क्षण भर बाद पूछा—

"तो ऐकर तेल गाँव में कहाँ मिली ?"

"तेल तो हर तीसरे दिन स्टेशन जाकर लाना होगा।"

"तब ठीक है !" संतोष की सांस लेकर गंगई ने कहा और अचानक उसके मन में एक उत्साह जागृत हुआ कि गद्‌गद् होकर उसने कहा— "मालिक, तोहरेन बदौलत ई मोटर पर आज चढ़ लीन्हा, नहीं जब कभी डिप्टी साहब आवें तब ई मोटर गाँव ओरी जात रही और हम पंचन एक सर् से ऐकर जाब देखतै रह जाई ।"

उत्तर में कर्नल केवल मुस्करा पड़े—वही पुरानी मुस्कराहट ! उन्हें गंगई की बातों में बड़ा रस मिल रहा था। अचानक गंगई ने कर्नल को चौंका देने वाला एक प्रश्न किया ! कहा—"मालिक, सुना है पंजाब माँ बड़ी मारकाट मची बाटै। तौन तुम तो हुआँ से आय रहे हौ। का बात है ?"

कर्नल इस समय यह चर्चा नहीं चलाना चाहते थे। सो कुछ खीजकर कहा—"गंगई तुम भी क्या बात शुरू कर रहे हो। फिर किसी दिन पूछना।"

"अच्छा अच्छा।" गंगई समझ गया—"अबै तो महीना भर रइहौ न ! फिर कौनो दिना बताएव।"

और क्षण भर सन्नाटा रहा। बाहर के अन्धकार को चीरती मोटर की रोशनी में गंगई आँखें फाड़-फाड़ सड़क का जर्रा-जर्रा देख लेने के सुख का अनुभव कर रहा था।

तभी आगे एक पुल दिखाई पड़ा। चढ़ाई भी थी। मोटर बेग से बढ़ी जा रही थी, कि पुल की ढाल पर पांच छः काली-काली छायाएँ बीच सड़क से इधर-उधर भागती नजर आई। कर्नल ने हार्न दिया और वे छायाएँ और बेचैनी से अपने बगल की गठरी-मोटरी सँभालती उधर फिसलने की तरह दौड़ने लगी। कर्नल ने ब्रेक भी लगाया, परन्तु चढ़ाई के बाद ढाल थी। खतरा होने की संभावना थी, लेकिन वे सभी ग्रामीण बेचारे भयभीत होकर पुल की मेड़ से चिपककर सहमे खड़े

थे। जब मोटर वहाँ से गुजरी तो डांटकर फौजी आवाज में कर्नल कह उठे—"ईडियट, भागते हैं!"

तभी खिड़की से सिर निकालकर गंगई ने भी डांटा—"ठाढ़ नहीं होई जात जातेव, भागत का हौ?"

और गंगई की इस बात पर फिर कर्नल हँस पड़े और उस रात को खा-पीकर खाट पर लेटे तो गंगई ने परम आत्मीयता से कर्नल से कहा—

"अगर रुष्ट न होय कहव तो एक बात कहे का जी तड़पत है।"

"हाँ, हाँ कहो गंगई, ऐसा भी क्या?"

और कर्नल का प्रोत्साहन पाकर गंगई ने कहा—"हमरे विचार में अबहीं तुम्हार उमरौ कुछ नाहीं बा। काहे नहीं बियाह कई लेतेव। कब तलक अइसिन रइहौ?"

कर्नल के मन का जैसे दबा घाव दुःख गया हो। इधर पता नहीं क्यों उन्हें भी सदा मन में एक आवाज ऐसी ही उठती सुनाई पड़ती है जिसके फलस्वरूप उन्हें विवाह के प्रति एक आकर्षण, एक कमज़ोरी का अनुभव होने लगता है। आज सहसा पुरखों के इस गांव के घर के आंगन में एकान्त में गंगई की बात ने उनके अन्तर को हिला दिया। क्षण भर सोचा और कहा:—

"गंगई, हमारी अब शादी की उमर नहीं है।"

"का बात कीन्हेव मालिक, अरे साठा तो पाठा। अभी आधी उमिर बाकी है। हमार तो राय रही कि घर गृहस्थी भी अब देखतेव, बहुत फौज फक्कड़ देखेव।"

सचमुच कर्नल के सम्मुख, घर स्त्री, बच्चे—ये सभी जागृत स्वप्न के नायक बन कर प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगे। एक लालसा जागी कर्नल के मन में। सचमुच सारा जीवन तो यों ही बीत गया। अब कुछ करना ही होगा। उन्हें लगा कि जीवन के चौवन साल उन्होंने यों ही होटल

की थालियों में खा-खा कर और बाजारू औरतों के क्षणिक प्रेम-अभिनय से तृप्त होकर ही बिताया। अब भी देरी नहीं हुई है, अगर इस भूल में सुधार करके घर की रसोंई का स्वाद लिया जाय और घरवाली के प्रेम और प्यार का एकमात्र स्वामी बना जाय! पर दुनिया? दुनिया क्या कहेगी? जब जवानी थी, शादी हो रही थी, तब तो भाग खड़े हुए थे और अब लालच लगती है!

कर्नल का दिल बैठने लगा। संताप में डूब कर कहा—"गंगई हमसे कोई अपनी बेटी न ब्याहेगा?"

"एकर जवाब ऐसे का देई मालिक। कहो तो करके दिखाई?"

"तो क्या?"

"एक बिटिया हमरे नजर में हैं। कहो तो कल्ह तय कराई?"

"कहां गंगई?" कहते हुए कर्नल उठ कर बैठ गए।

"अरे अपने सुकुल की बिटिया। बियाह लायक है, पन्द्रही पार होत होई।"

कर्नल इसके आगे कुछ पूछ न सके। कह भी न सके। लम्बी सांस छोड़ कर फिर लेट रहे। मन में रह रह कर हो रहा था - पन्द्रह-सोलह की लड़की, चौवन का मैं! कैसे क्या होगा? उसकी जवानी के आंचल में अपमें बुढ़ापे की गिट्ठी लगाना कहां तक न्यायपूर्ण है? नहीं—यह उचित नहीं। तभी मन में एक और आवाज उठती—"परन्तु इसका इलाज और दूसरा क्या है?"

और इसके आगे कर्नल चुप ही हो जाते।

तभी गंगई ने कहा:—"तो कहो तो मालिक कल हम बात चलाई?"

"गंगई, कहते तो ठीक हो, पर मेरी समझ में कुछ नहीं आता। तुम्हारा जो मन हो......"

बात लोक कर गंगई ने कहा --"हां, हां, तुम्हें कुछौ समझने को नाहीं बा ! हम सब करब !"

और इसके बाद मन की व्यथा से बुरी तरह पीड़ित होकर कर्नल ने करवट बदल ली।

गंगई ने अपने जीवन का सब से मालदार असामी फांसा था। मुकुल को राजी करना तो बाएं हाथ का खेल है और अगर यह शिकार फँसा तो यह मकान तो गंगई के नाम हो कर रहेगा। उस रात गंगई सुख की नींद सोए।

परन्तु बेचारे कर्नल सचमुच जाल में फंसी मछली की तरह रात भर तड़पते रहे।

जीवन भर लड़ कर हर कदम पर मृत्यु का सामना करके पायी हुई यह कर्नल की उपाधि गृह और गृहिणी के बिना बेकार लगती थी। सारे जीवन खड़ी की गई दीवार की नींव का पत्थर उन्हें खिसकता नजर आया और अगर अब दीवार ढह ही पड़े तो क्या आश्चर्य ! कर्नल जाग कर सपना देखते रहे--शहर की लड़की भला इस उम्र में क्या मिलेगी, सो गांव की ही सही। हां, उसे भी पढ़ा लिखा कर सोसायटी के योग्य बनाया जा सकता है--मिसेज कर्नल पांडे बनाया जा सकता है।

अगर यह सच है कि गांव का यह दीनू पाण्डे कर्नल दिनेश पाण्डे हो सकता है तो यह भी सच होगा कि गांव की लड़की मिसेज कर्नल पाण्डे भी बन सकती है। उन्हें याद आयी उनके मित्र कैप्टन भटनागर की पत्नी, जो निरी देहातिन थी और शादी के पूरे बारह बर्ष बाद पढ़ाना शुरू करके आज उसे भटनागर ने पूरी मेम साहब बना दिया है।

और हर तरह से अच्छा-बुरा सोचते हुए कर्नल पाण्डे ने बिना सोए ही रात काट डाली।

दूसरे दिन तड़के ही गंगई ने जाकर मुकुल को सब समझाया कि

कितनी मुश्किल से उसने कर्नल को उसकी गरीबी पर तरस खाकर उसकी बेटी को ब्याहने को राजी किया है। नहीं तो उससे तो शादी करने को अच्छी अच्छी मेमें सिर पटक के रह गईं पर कर्नल राजी न हुए। यह तो सुकुल के अच्छे ग्रह उदित हुए हैं।

सुकुल पर सारी बातों का ठीक ठीक असर पड़ा, परन्तु केवल उम्र की ही बात से थोड़ी-सी हिचक थी। पर बेटी को इससे अच्छा घर और धन, दौलत, मोटर, शहर और ठाट-बाट ढूंढ़ना उनके बस की बात नहीं।

गंगई के प्रस्ताव को सुकुल अस्वीकार न कर सके।

चलते चलते गंगई ने कहा—"महीना भर रहेंगे करनैल साहेब! जाय के पहिले सब कई डालौ। चट मंगनी पट वियाह! नहीं तोड़े आदमी का मन बदलत देरी नाहीं लागत!"

और सुकुल को और न सोचने-समझने की विवशता हो गई।

दोपहर को गंगई ने सुकुल की स्वीकृति की बात बता कर कर्नल से कहा कि जाने के पहले यह काम निपटाना ही होगा। इस समय कर्नल की सारी कठोरता जाने कहां चली गई थी कि उसके मस्तिष्क की बागडोर पूरी तरह गंगई के हाथों में थी। कर्नल ने कहा कि एक बार लड़की जरूर देखेंगे।

गंगई ने विरोध किया—"गाँव का ई कायदा नाहीं न! सुकुल कभी न मनिहैं।"

पर कर्नल जाने क्यों इस बात पर अड़ ही गए। कहा—"तुम्हारे कहने पर सब तो कर रहे हैं पर लड़की देखेंगे जरूर!"

उस दिन शाम तक चिन्तित रह कर गंगई ने एक तरीका निकाल ही तो लिया। शाम को जाकर सुकुल से कहा—"कर्नल साहब अच्छी मोटर हांकते हैं। इस बार लारी वाले की टैक्सी लाए हैं, और भगवान ने

चाहा तो ओका कर्नल मोल लै ले हैं। सो उनकी इच्छा है कि एक दांव सब का ओपर सैर करावैं।"

सुकुल तो थोड़ा हिचके, परन्तु सुकुलाइन ने सोचा कि टैक्सी मोटर पर चढ़ने का इतना अच्छा अवसर कब आवेगा ? और फिर जब उसे उनका भावी दामाद हांके। वे जरूर चलेंगी और परदा के लिए चादर तान लेंगी। सुकुल को यह सुकुलाइन का लड़कपन लगा बिना व्याह के लड़की को दामाद के सामने कैसे ले जायं ? परन्तु उधर दामाद की इच्छा का प्रश्न था। कहीं कर्नल नाराज हो गया तो फिर कुछ करते-धरते न बन पड़ेगा।

और दूसरे दिन कर्नल की मोटर पर चढ़ कर सुकुल, सुकुलाइन और उनकी भाग्यवान बेटी अगले गांव के ठाकुरद्वारे तक गए, ठाकुर के दर्शन किए और वापस आए। रास्ते में कर्नल ने आंखें घुमा घुमा कर अपनी भावी पत्नी को हर दृष्टिकोण से देखा। नाक नक्शा तो उतना अच्छा नहीं, पर जवानी का प्रथम चरण था। सब बदसूरती भी सौंदर्य की छांह में पतली नजर आई। उस नवयौवना की फूली नाक, बूढ़े होते कर्नल को बहुत अच्छी लगी। वे रह रह कर उसके भरे भरे चेहरे को देख लेते और अपने भाग्य को सराहते। गांव में इससे अच्छी नहीं मिलेगी, यह उनकी धारणा थी। बीच में एक सुनसान जगह एकाएक कर्नल ने मोटर रोक दी और घूम कर पीछे देखा—जैसे कोई खतरा हो। बाप-मां के साथ बेटी भी आश्चर्य से आंखें फाड़े देखने लगी। कर्नल ने एक बार एक ही झटके में आश्चर्य और भय से लाल उस चेहरे को देखा और इस नाटक का अध्याय पूरा करने के लिए मोटर से उतरे। इंजन में थोड़ा-सा ठक-ठुक किया, यह भी बता दिया कि उन्हें बिगड़ी मोटर ठीक कर देने का भी हुनर मालूम है।

और इस प्रकार फिर से मोटर स्टार्ट करके सुकुल और सुकलाइन

के हृदय में बने अपने स्थान को थोड़ा और ऊंचा कर लिया। ऐसे होशियार पति की बात सोचकर बेटी के चेहरे पर दर्जनों गुलाब खिल गए और सुकुल और सुकलाइन की प्रशंसा से फैली आंखें चार हुईं।

और इन सब के मन की अथाह गहराई की भी बात समझने वाले गंगई मन ही मन फूलते रहे।

ठाकुरद्वारे से लौटने के बाद कर्नल कई दिनों तक सुकुल और सुकलाइन के बहस के विषय बने रहे और उनकी बेटी तो सदा ही उस मायावी कर्नल के ख्याल में डूबी रहने लगी।

महीने भर की किराये की मोटर का कर्नल ने पूर्णतया उपयोग किया।

और गंगई ने अथक परिश्रम के बाद कर्नल के लौटने के तेरह दिन पूर्व की तिथि को सगाई की रस्म अदा होने की तिथि मानी गई और सात दिन बाद ब्याह!

सब तैयारी होने लगी। सुकुल को गुप्त रीति से तैयारी के लिए कर्नल ने तेरह सौ रुपये भेजे, जो गंगई की मार्फत गए और ग्यारह सौ होकर सुकुल को मिले।

और जब उस दिन सगाई के तीन दिन पूर्व कर्नल मोटर में पेट्रोल भराने स्टेशन गए तो सोचा कि डाकखाने भी होते चलें। सो, डाकखाने में उन्हें दो दिन पूर्व आया हुआ जो सरकारी पत्र मिला उससे उन्हें अपनी यह अशोक-बाटिका उजड़ती-सी लगी।

उदास लौटकर गंगई से बताया कि काश्मीर में लड़ाई शुरू हो गई है। और उस सरकारी पत्र के अनुसार कर्नल को एक सप्ताह में दिल्ली पहुँच जाना है। पत्र को चले तीन दिन हो गए और इस तरह अगर वे कल नहीं चले जाते तो सारा गुड़ गोबर हो जायगा। फौजी हुक्म की कीमत कर्नल साहब अच्छी तरह समझते थे।

सुकुल को खबर की गई। वे तो उदास हो गए, जैसे गो हत्या लगी हो। दौड़ कर आए। गंगई और कर्नल से मन्त्रणा की। सभी उदास थे और यही निश्चय किया गया कि अभी तो कर्नल जायं और अगले महीने एक हफ्ते के लिए छुट्टी लेकर आ जायं और ब्याह हो जाय !

सुकुल, सुकलाइन और गंगई से भी अधिक उदास तो हुई सुकुल की बेटी ! पर उसका क्या बस ! उसे तो लग रहा था कि उसके भाग्य का सूर्य आधा निकल कर फिर डूब गया !

और कर्नल चले गये। गंगई उन्हें गाड़ी पर बैठा आया, मोटर वापस दे दी गई। सुकुल ने तैयारियाँ रोक दीं। गनीमत थी कि सभी रुपया खर्च नहीं हुआ था, सुकुल ने बचे एक हजार रुपयों को सहेज कर रख लिया।

चहल-पहल स्थगित हुई।

कर्नल एक रेजीमेन्ट लिए काश्मीर में बढ़े जा रहे थे, मानो उनकी क़िस्मत बुरा जानती ही नहीं थी। उन्होंने जो काम किया उससे काश्मीर और दिल्ली के अखबारों में उनका नाम छपा। परन्तु महीने भर बाद उन्हें छुट्टी नहीं मिली। इतने अच्छे कर्नल को सरकार इस अवसर पर छुट्टी नहीं देना चाहती थी। उधर तड़प-तड़प कर रह जाता था कर्नल का दिल ! कुछ कहते-सुनते न बनता।

अवकाश के क्षणों में वे जब बैठते तो सुकुल की बेटी का भरा भरा चेहरा दिखाई पड़ने लगता ! मन में एक हूक उठती—"लड़ाई दो हफ़्ते बाद ही होती तो क्या होता !"

फिर सोचते छुट्टी मिलते ही जायेंगे। काश, उनकी यह होने वाली पत्नी कुछ भी पढ़ी लिखी होती तो कर्नल अपने मन की व्यथा उसे लिख तो पाते ! पर कर्नल उसे याद कैसे रखें ! एक दिन अपने लेटर पैड पर फाउन्टेनपेन से कुछ लिखने जा रहे थे कि सहसा भावी पत्नी की याद

उन्हें सताने लगी। मन मचल उठा, लगा सामने बैठी है वह! अनजाने ही उनकी कलम उनके मस्तिष्क के बहाव के अनुसार चलने लगी। कुछ देर बाद पीछे से आहट पाकर जब कर्नल पाण्डे की तन्द्रा टूटी तो देखा कि पीछे खड़े कर्नल शर्मा और कैप्टन कुलकर्णी हँस रहे थे—"यह क्या कार्टून बना रहे हो?"

और जब कर्नल पाण्डे ने सामने देखा तो सचमुच सुकुल की बेटी की याद में यह जो हिलती-सी लकीरें बन गई हैं, उसमें सुकुल की बेटी झांकती-सी लगी। और उसकी नाक तो हूबहू बनी है।

कर्नल ने झट उसे ढांप लिया। पर शर्मा और कुलकर्णी जान को पड़ गए—"पाण्डे बताओ, माडल कौन है? क्या मिसेज भटनागर?"

"बड़े बदमाश हो तुम लोग! यह क्या कहते हो? अरे यार यह तो दिल्ली में चाय पिलाती थी, उसका यह बदला चुका रहे हो?"

"खैर न बताओ, पर हो तुम अच्छे कार्टूनिस्ट!"

और जब दोनों चले गये तो कर्नल ने रेखाओं द्वारा निर्मित अपनी भावी पत्नी का वह चित्र जी भर कर देखा। फिर तो वह जैसे उसकी प्रतिमा बन गई! कर्नल पाण्डे उसी कार्टून को बराबर देखते रहते। बाद में सुधार कर एक और चित्र बनाया और यह उससे भी अच्छा!

फिर तो अवकाश के क्षणों में अब सदा लेटर पैड पर सुकुल की बेटी का चित्र बनता, फूले फूले गाल जो कर्नल पाण्डे की चित्रकारी में बुरी तरह लटक आते, फूली हुई नाक जो सचमुच पकौड़ी बन जाती और मित्र मण्डली देख कर हँसते-हँसते लोटपोट हो जाती और कर्नल पाण्डे मन में खुश होते।

कुछ ही दिनों में कर्नल दिनेश पाण्डे अपने फौजी मित्रों में कार्टूनिस्ट हो गए और सचमुच उनका पैड इस प्रकार की भोंडी-भोंडी रेखाओं से भर

गया जो किसी औरत की तस्वीर बनने के फेर में जाने कहाँ से शुरू होतीं और कहाँ खतम होती, इसे कर्नल कार्टूनिस्ट पाण्डे ही जानते।

पाण्डे को आए तीन महीने हो गए। और इस बीच उनके तीन लेटर पैड कार्टूनों से भर गए!

काश्मीर की विजय के बाद जब पं० जवाहरलाल नेहरू श्रीनगर गए तो उनसे कर्नल पाण्डे का परिचय कराया गया और जब कर्नल पाण्डे पं० जवाहरलाल से हाथ मिला रहे थे तभी किसी चतुर प्रेस फोटोग्राफर ने उनका चित्र ले लिया और एक दिन वह पत्रों में छप कर आया तो कर्नल पाण्डे की प्रसिद्धि का ठिकाना न रहा। उस पत्र की एक प्रति उन्होंने गंगई को भेजी।

और गंगई उस अखबार का वही पृष्ठ लिए लिए गांव भर में घूमें। वह यह कह कर दिखाते रहे कि "देखो, हमारा करनैल मालिक तो अब जवाहरलाल से हाथ मिलाता है!" भला इस बात से इन्कार कोई क्यों करता? अखबार ने ही चित्र छापा था।

गांव भर की आंखों में उँगली डाल-डाल कर वह चित्र दिखा कर गंगई ने उसे सुकुल को भेंट किया। सुकुल ने उस चित्र को काट कर, भात से कनस्टर के एक टीन में चिपकाया और घर में टांग लिया। काश, कर्नल अब भी लौटता तो उसकी बेटी सुहागिन बनती! पर लड़ाई के फौजी आदमी का क्या ठिकाना! पता नहीं लौटे भी या नहीं!

सोच-साच कर सुकुल और वर भी खोजते रहे!

और जब सुकुल खेत में होते और सुकलाइन पास पड़ोस में होतीं तो उनकी दुलारी बेटी आंखों में आंसू भर कर उस टीन पर चिपके चित्र के सामने खड़ी हो जाती और रो रो कर उनके शीघ्र लौटने की प्रार्थना करती! और कभी कभी तो बड़े जतन से चित्र उतार कर टीन सहित कलेजे से लगा कर दीवानी-सी भटकती, जब तक कि माँ-बाप

के आने की आहट न होती और उसे डर कर चित्र फिर टांग न देना पड़ता।

इसी प्रकार विरह के अग्नि-पथ पर चलते हुए सुकुल की बेटी ने पांच महीने काट दिए। न कर्नल को छुट्टी मिली न वह आए।

एक दिन सुकुल ने एक नया दामाद खोज ही तो निकाला! दो सौ एक रुपया देना पड़ेगा। नया गाँव के पुरोहित का बेटा मिला! सो इतना दे कर भी आठ सौ रुपया बचेगा जो कर्नल दे गए थे और ब्याह पूरी शान से हो जायगा।

बेटी ने सुना तो बिलख पड़ी, पर वह एक ऐसी गाय थी जिसकी रस्सी चाहे जिसे पकड़ा दो वह नहीं बोल सकती। उसी दिन जब सगाई हुई तो उसके बाद सुकुल की बेटी ने पहला काम जो किया वह यह कि आंसुओं से गीली कर के उस तस्वीर को टीन से नोंच डाला और टीन का टुकड़ा खेत में फेंक आई।

और एक पखवारे में उसका ब्याह हो गया।

उधर काश्मीर में मोर्चे पर यश और कीर्ति कमाने वाले कर्नल पाण्डे पूरे कार्टूनिस्ट बने अपनी गुमनाम पत्नी का चित्र बनाया करते!

अन्त में वर्षा हुई। पर "का बरखा जब कृषि सुखाने!" पाण्डे को बड़ी कोशिशों के बाद छुट्टी मिली। और अपना आधा दर्जन रंगा हुआ पैड लिए हुए वे फिर गांव की ओर चल पड़े। गंगई को तार देकर सूचना दी कि वह आ रहे हैं। शादी की तिथि निश्चय कर लेना।

स्टेशन पर कर्नल उतरे तो गंगई उनसे मिला। और जब कर्नल फिर टैक्सी मोटर लेने के लिए गंगई से राय ली तो उसने कहा—"अब वही बसै मां चलौ मालिक! अब के के बदे मोटर लै चलिहौ? सुकुल तो आपन बिटिया नया गांव ब्याह दीहिन! कब तलक तोहार आसरा देखतें, बिटिया बड़ी होत रही।"

सुन कर कर्नल के मुँह से कुछ न निकला। दूसरी गाड़ी से वे वापस लौट पड़े।

चलती हुई मेल ट्रेन की खिड़की से अपनी चित्रकारी के एक एक नमूने को उड़ाते हुए कर्नल खट्टे दिल से अपने दिल के टूटे टुकड़े उड़ा रहे थे।

जब पांचों पैड के सभी पृष्ठ उड़ गये तो एक सादा पैड ले कर बैठ गए कर्नल, कार्टूनिस्ट, पाण्डे! पर बहुत चाह कर भी अब वे सुकुल की बेटी का कार्टून—चित्र न बना पाए।

मन ही मन उन्होंने निश्चय किया कि वे अपने प्यार की इस भूली दास्तां की एक कहानी लिख कर किसी अखबार में छपावेंगे। उससे उन्हें शान्ति मिलेगी।

और जब कहानी छपेगी तो शायद पहले जैसी ही हंसी में हँस कर कैप्टन शर्मा और कुलकर्णी मजाक करेंगे—"अरे कर्नल, कार्टूनिस्ट, पाण्डे तो और लेखक हो गया! और तब आजीवन शादी के चक्कर में न पड़ने का निश्चय रखने वाले कर्नल पाण्डे अपनी इस गलती पर पीड़ित होकर शायद कोई अच्छी रचना कर सकें। और कर्नल का जीवन-चरित्र लिखने वाले लोग शान से लिखेंगे कर्नल, कार्टूनिस्ट, लेखक ......!"

यही सोच कर कर्नल को इस समय फिर थोड़ी-सी हँसी आई। हँसी चाहे थोड़ी हो या अधिक, पर हँसी की भावना से ही कर्नल पाण्डे के नथुने फूल ही उठे। छोटी छोटी आँखों की चमक ड्योढ़ी हो गई।

गाड़ी पूरे वेग से जा रही थी और उसी वेग से अपनी आत्म-कथा का आधार सोच रहे थे—कैप्टन दिनेश पाण्डे, जो अब कार्टूनिस्ट नहीं लेखक होंगे।

निशानियाँ

यह मिरजापुर की जिला जेल !

जेल, जानवरों की श्रेणी में गिने जाने वाले, कसूरवाले कैदियों का दौलतखाना ! भीतर रहने वालों की बात तो नहीं मालूम पर वे ही कैदी जब बाहर होते हैं तो मुस्कुरा कर कानी उँगली इसके फाटक की ओर दिखा कर कहते हैं—ससुराल !

पर सभी ससुराल कहने में गुदगुदी-सा अनुभव नहीं करते। एक श्रेणी के कैदी और हैं जो कभी जिक्र छिड़ने पर कहेंगे – कृष्णनगर ! वे इसका संबंध महाभारत युग में कंस के जेलखाने से जोड़ते हैं।

ठीक भी है, वे वहाँ तक, उतनी ऊँचाई तक सोच सकते हैं। मेरा इशारा है पढ़े-लिखे बाबुओं की ओर, जो 'सुराजी कैदी' बनते थे।

आज अचानक एक घटना घट गई। किस तरह किसी का भाग्य लौटता है, इसकी बात है।

भला सोचिए, किसी जेलखाने का क्या महत्व हो सकता है? पर नहीं, आज एक रहस्य खुला है और अचानक इस जिला जेल का महत्व कई गुना बढ़ गया है।

जेल के फाटक के सामने ही बस का अड्डा है! आज जब बस रुकी तो गला तर करने के लिए शरबत लस्सी की तलाश में मैं उतर पड़ा। उधर पान की छोटी-सी दूकान दिखी तो बढ़ गया। वहाँ दूकानदार के अलावा एक और व्यक्ति बैठा था। सुर्ती बना रहा था। गलमुच्छों से रोब बरस रहा था। देख कर मैंने सोचा, यह मिरजापुर! यहाँ पहलवानी का शौक साधारणतया अधिक है। शायद यह भी कोई पहलवान है। मैंने दूकानदार से शरबत बनाने को कहा और सिगरेट जलाकर बुझी हुई माचिस की सींक फेंकी, तभी मेरी नजर जेल के फाटक पर पड़ी। सफाई हो रही थी। धारीदार जांघिया-कुरता पहने कैदी बड़ी तत्परता से सफेदी कर रहे थे, जमीन बराबर हो रही थी। पानी का छिड़काव हो रहा था।

अचानक मैं पानवाले से पूछ बैठा—"कोई जलसा है?"

पानवाला उत्तर देता, इसके पूर्व ही वह गलमुच्छों वाला पहलवान बोल उठा—"बाबू घूरे के भी दिन लौटते हैं।"

यह कहावत मैं पहले भी सैकड़ों बार सुन चुका था। पर आज इस पहलवान के कहने में कुछ अधिक और विशेष महत्व का भास हुआ। शायद इसके तह में कोई बात हो।

मैं उस पहलवान का मुँह ताकने लगा।

उसने शायद मुझसे कुछ सुनने की आशा रखी हो, परन्तु जब मैं मौन ही रहा तो उसने कहा,

"बाबू साहब, बाल पक गये हैं इस जेलखाने की जमादारी करते हुए।"

तब मैंने समझा कि यह इस ज़ेल का जमादार है। उसने आगे कहा —

"सत्रह साल के पहले एक दिन के लिए अँग्रेजी सरकार ने पण्डित जवाहरलाल नेहरू को यहाँ बन्द किया था। उसी कोठरी की, जिसमें वे रहे थे, मरम्मत हुई है, पक्की कर दी गई है। कल यहाँ प्रान्त के एक मंत्री आनेवाले हैं, इसी लिये यह सजावट हो रही है। उन्हें जवाहरलाल की वह कोठरी भी दिखाई जायगी। कौन जानता था कि उस समय का वह बाबू कैदी आज इतनी बड़ी सल्तनत का बादशाह हो जायगा। मैंने भी एक बार उन्हें डाँटा था।"

यह अन्तिम वाक्य कहते हुए पहलवान जमादार के चेहरे पर एक लज्जापूर्ण मुस्कुराहट खेल गई। वह जैसे कहने में बुरा समझ रहा हो, पर कहने की विवशता रही।

मैंने तनिक झटक कर कहा—"तो इसमें क्या खास बात है। हमारे इलाहाबाद में तो जवाहरलाल जी ने अपनी जवानी, जिन्दगी का बहुत बड़ा हिस्सा गुजारा है। वहाँ की एक-एक गली उनसे परिचित है, तो क्या सब जगह इसी तरह पक्की इमारत बनाई जाय?"

"लेकिन हमारे जेलखाने के लिए वह एक दिन तो जन्म-जन्म की निशानी बन गई है बाबू!" जमादार ने कहा।

मैं विवश होकर उस निशानी पर सोचने लगा। एक दिन, एक निशानी! यही मनोदशा रही तो आश्चर्य नहीं एक दिन यह जेलखाना, बड़ा सरकारी दफ़्तर बन जाय!

मैंने सिर झटक कर यह बात अपने दिमाग़ से निकाल फेंकना चाहा। शरबत मैं पी चुका था। पैसे चुका दिये।

बस पर से मेरा सामान उतर चुका था। मैं उधर बढ़ा, तभी एक रिक्शावाला चीख उठा—"बाबू, ले चलूँ ?"

उसकी चीख ने मेरा ध्यान झकझोर दिया। मैंने ग़ौर से देखा, जाँघिया, गंजी, पहने वह कलूटा-सा जवान, रिक्शे की सीट पर बैठा मेरी ओर सिफारिश की निगाह से देख रहा था—उसके पीछे कई रिक्शे वाले बिल से निकल कर चींटों की तरह बढ़े आ रहे थे। उसकी चीख का यही कारण था कि मुझे कोई रिक्शावाला न बुला ले।

मैंने अपना सामान उसे बता दिया और उसने उसे रिक्शे पर लाद लिया। फिर मैं भी सवार हुआ और वह शहर की ओर चला।

सड़क बड़ी खराब थी। हर कदम पर रिक्शा इतनी तेजी से उछल जाता था और जो धक्का लगता था उससे तबीयत दुरुस्त हो जाती थी।

तभी रिक्शावाला बड़बड़ा उठा—"क्या इंतजाम है। हर साल बारह रुपया टैक्स देता हूँ। और सड़क भी पक्की नहीं होती।"

मैंने समझा कि यह आदमी दिलचस्प है। बात को बढ़ाने के लिए मैंने कहा—"तो क्या चाहते हो कि सब काम छोड़कर सब से पहले सड़क ही पक्की कराई जाय ?"

"यह मैं नहीं कहता परन्तु जेल की कोठरियाँ पक्की कराने से ज्यादा जरूरी है सड़क पक्की कराना।"

बात ठीक थी, तर्क की गुंजाइश नहीं थी। मैंने कहा—"वह कोठरी निशानी है, एक दिन की एक कैदी की जो बादशाह हो गया है।"

मेरी इस बात ने जैसे उसके हृदय के किसी घाव को कुरेद दिया, वह तनिक टीस के स्वर में बोला—"निशानियाँ ! मेरे पास भी उससे बड़ी निशानी है। जब मैं पढ़ता था......।"

मैंने बीच में ही टोका,—"तुम कितना पढ़े हो ?"

"आंठवीं क्लास में फेल हो गया था तबसे छोड़ दिया।'

"क्यों ? छोड़ा क्यों ?"

"छोड़ता न तो क्या करता ? उसी साल माँ मर गई। खाने का ठिकाना ही नहीं था, पढ़ता तो क्या ?"

"तो और कोई काम क्यों नहीं किया ? यह रिक्शा...?"

"और क्या करता ? दफ्तरों में चपरासी की जगह मिलती थी, पच्चीस रुपये की। बाद में बरफ की दूकान रखी थी सो उधार इतना चढ़ गया कि क्या बताऊँ ? अब रिक्शा में साढ़े तीन-चार रुपया रोज बचा लेता हूँ। मजे से कटती है।"

"हाँ, ठीक है, पर तुम्हारी निशानी ?"

"हाँ एक निशानी है मेरे पास। जब मैं सातवीं क्लास में था तब एक बार पं० जवाहर लाल मेरे स्कूल में आए थे। तब दस्तखत लेने की चाल थी। अट्ठारह आने की एक दस्तखत वाली कापी लेकर मैंने भी उनकी दस्तखत ली थी। वह अब तक है। उस कापी में और भी नेता लोगों के दस्तखत हैं। विलायत से तीन क्रीकेट 'चैम्पियन प्लेयर' आये थे, उनके भी हैं। जब मैं नौकरी खोजने निकला था तब नौकरी तो नहीं मिली, लेकिन एक प्रोफेसर साहब उस कापी को खरीदना चाहते थे। सौ रुपया दे रहे थे। लेकिन मैंने नहीं दी, अगर उस हस्ताक्षर की कीमत है तो शायद जवाहरलाल और बड़े आदमी हो जायँ तो और कीमत बढ़ जायगी दस्तखत की। सो इसी लिए नहीं दिया। सुना है, गाँधी जी की मौत के बाद उनके दस्तखत हजार-हजार रुपये के बिके हैं। सो, मैं भी एक दस्तखत बच कर, सहेज कर रखे हूँ। और अगर न भी बिकी तो कम से कम एक निशानी तो है हमारे स्कूल के दिनों की!"

मैं सोचने लगा—यह भी एक निशानी है। आज निशानियाँ बचा कर रखने का ही जमाना है।

तब तक मैं अपने मित्र के घर, जिनके यहाँ जाना था, पहुँच गया। वे यों तो हमारे कालेज के साथी हैं, लेकिन पहले वह क्या थे, यह कहना या सोचना ही शर्म की बात है। बस यही समझिये कि कई महीनों हमीं ने अपने पैसे बचा कर उनकी फीस भरी थी पर अब वे यहाँ के मशहूर वकील हैं। कांग्रेसी हैं। दो बार जेल गये थे—अब एम० एल० ए० हैं।

उनका अब अपना एक आलीशान बँगला है। बाहर बगीचा है। फाटक पर ही रिक्शा रोक कर मैं भीतर दाखिल हुआ। बगीचे की क्यारियों से आती सुगंध ने उनके वैभव की सूचना दी।

थोड़ा आगे बढ़ा तब एक माली मिला। मैंने मित्र का नाम लेकर, नाम के साथ 'बाबू' शब्द जोड़ कर पूछा तो "आप बैठिए; मैं खबर करता हूँ" कह कर उसने बरामदे में पड़ी बेंत की कुर्सियों की ओर इशारा किया।

मैं पिछले साल भी आया था पर तब से अब में फर्क है। मैं बरामदे में बैठ गया और मेरे कानों में भीतर के कमरे से आते गृह-युद्ध के कुछ वाक्य पड़े और मैं सतर्क होकर सुनने लगा। मित्र की आवाज पहचान गया, जिसके साथ इतना रहा हूँ क्या उसे पहचान भी न पाता ? हाँ, यह दूसरी आवाज उसके पत्नी की थी !

मित्र महोदय बिगड़ रहे थे—"क्या कभी मैंने सोचा था कि यह अच्छे दिन भी आ सकते हैं ? अरे बरसों मैं एक शाम भूखा रह कर पढ़ा था। तब कभी यह न सोचा था कि वह दिन भी आयेंगे जब अपना बंगला होगा, यह बाग होगा, मोटर होगी, शोहरत होगी, इज्जत होगी, नौकर-चाकर होंगे। मैं तो कहता हूँ कि मेरे न रहने पर यही मेरी यह निशानियां देशभक्ति और मेरे त्याग की यह निशानियां – लोग देखेंगे और भारत की आजादी के साथ इसे भी याद करेंगे।"

मैं बैठा सुन रहा था। वे कहे जा रहे थे। तभी क्षीण आवाज में उनकी पत्नी ने कहा—

"परन्तु यह सब किसके बलपर, किसके लिए यह निशानियां ?"

कड़क कर मेरे मित्र महोदय ने बताया—

"वाह, कांग्रेस के साथ आजादी की लड़ाई में सदा आगे बढ़ कर लड़ता रहा। जेल की सूखी रोटी चबाई। तुमसे, घर से, बरसों दूर रहा। और इन्हीं सब त्याग का यह फल है। लेकिन एक तुम हो कि जिसमें कोई परिवर्तन नहीं। जैसी दुखियारी पहले थीं वैसी ही अब हो। न कभी अच्छी साड़ी, न जेवर! आखिर तुम्हीं जब इसके प्रति उदासीन रहोगी तो क्या मुझे छाती पर लाद कर ले जाना है ? घर के जो जेवर-गहने थे सब तो दुर्दिन में बिक गये पर अब जो अच्छे दिन आए हैं उसमें तो फिर बनवा लेना चाहिये। पिछली बार कहा तब भी तुमने न लिया, न बनवाया और मुझे ही सोने की घड़ी खरीदनी पड़ी। अब भी तुम ना-नू करती हो। आखिर कल मंत्री आवेंगे, अपने मेहमान बनेंगे! भला बताओ तो क्या इसी तरह उनके सामने जाओगी ?"

तभी बहुत धीरवाणी में पत्नी ने कहा, "हाँ, यों ही कोई बुरा नहीं है अपने-अपने सोचने का ढंग है। आप लोग तो हवा में किले बनाते हैं। हवा पीकर फूलते हैं। पर मैं नहीं। आपने इमारत बनाकर निशानी खड़ी की है पर मैं तो एक निशानी, जो बनानी थी, वह युगों पहले बना चुकी हूँ।"

"वह क्या ?"

"तुम जब पहली बार पकड़े गये थे, तब अपने सारे गहने बेच कर तुम्हारा जुरमाना भरा था। क्या याद नहीं ? और एक बार जो गहने इस देह से उतर गये—वही मेरी निशानी है। फिर बनवा कर, पहन कर भला क्यों उस प्रिय स्मृति, मधुर निशानी, को मिटाऊँ।"

इतना सुनते ही मेरे कान झन्ना उठे। फिर मुझे मित्र महोदय की आवाज न सुनाई पड़ी। मैंने आस-पास नजर दौड़ाई, वह माली भी नहीं

था। रिक्शे का सामान भी नहीं उतरा था। लौटकर रिक्शे पर बैठा और कहा, "भाई स्टेशन वापस चलो!"

"क्यों, बाबू जी नहीं मिले?" रिक्शेवाले ने प्रश्न किया।

"नहीं।" कह कर रिक्शेवाले को चुप करने के अलावा भला और चारा ही क्या था?

रिक्शा बढ़ चला और मित्र-पत्नी के शब्दों में हवा पीकर फूलनेवाले आज के आदमी की निशानियों को मैं सोचता रहा। जेल की निशानी रिक्शेवाले की निशानी, मित्र की निशानी, मित्रपत्नी की निशानी—

ये भिन्न-भिन्न मानव! भिन्न-भिन्न निशानियाँ!!

कल्लू

कल्लू आठ दिनों से काम पर नहीं आ रहा है। पिछले बीफै को आया था उसके बाद जो गायब हुआ तो आज फिर शुक्र आ गया है।

कल्लू हमारे यहां मेहतर है। कभी यदि आप उससे पूछें तो वह तत्काल कहेगा : "मैं कालूराम हरिजन हूँ। आपका दास।" इसी से पता चल जाएगा कि उस पर नई दुनिया का भी रंग चढ़ चुका है। यों तो उसमें ऐसा कुछ नहीं जिसे असाधारण हा जाय, परन्तु उसे जो एक बार देख लिया जाय तो कभी भूला नहीं जा सकता। जैसा नाम वैसा ही गुण—काला कलूटा, आकर्षणहीन चेहरा। फिर भी ऐसा कि आपकी आंखें उसकी उपेक्षा नहीं कर सकतीं उस पर नजर पड़ेगी तो आपको गौर से देखना ही पड़ेगा। केवल रंग ही तो काला है। पकी हुई जामुन का रंग। लेकिन चेहरे की बनावट, भला क्या कहना! काश, रंग ने

भी सहयोग दिया होता तो लगता कि हजार में एक व्यक्तित्व है। परन्तु रंग के ही की कारण उसके चेहरे की नक्काशी की महिमा भी दब जाती है। वह सदा का कसरती रहा है। इस कारण उसके शरीर की बनावट में भी एक अनोखा गठन है और आजीवन मेहनत-मजदूरी करने के फल-स्वरूप शरीर की उस गठन में स्वाभाविकता अधिक है। ऐसा नहीं कि उसका शरीर मांस का लोंदा हो, बल्कि उसमें मेहनत ने एक सौंदर्य पैदा कर दिया है, परन्तु यह सब बातें गौर से देखने से ही जानी जा सकेंगी।

प्रकृति भी उसने अजीब पाई है। जैसा वह काला-कलूटा है, वैसा ही पहनने-ओढ़ने की तरफ से भी वह लापरवाह! कपड़ों से जैसे उसे चिढ़ रही है। केवल एक लंगोटी देह पर और धोती सिर पर पगड़ी की तरह लिपटी हुई! परन्तु कपड़ों का अपना हक उसने कभी नहीं छोड़ा। जब कभी भी मेरे यहां कोई शादी-ब्याह पड़ा या दूसरे छोटे-मोटे कार्य, जैसे छठी मुंडन, हुए तो इन अवसरों पर उसने लड़कर, सत्याग्रह कर के धोती ली है। सादी कोरी नहीं, रंगी रंगाई, पीली सगुनवाली, ताकि चार आदमी जान सकें, पूछें और वह शान से बता सकें कि फलां सरकार के यहां फलां उत्सव था, इसीलिए मिली है। और प्रत्येक व्यक्ति को बताते हुए वह एक बार मेरे परिवार की झूठी बड़ाई कर जाता। कुछ रटे रटाए वाक्य : "सभी बाबुओं का जो स्वभाव है वह बड़े बड़े राजा महाराजा नहीं पाते। और हमारे ऊपर कितने मेहरबान हैं, कभी किसी बात के लिए उज्र नहीं करना पड़ा भगवान सबको बनाए रखें।"

और पीली धोती पाकर यह गाथा वह हर परिचित के आगे गा आता। यद्यपि उसके लिए उस धोती का प्रयोग होता—सिर का साफा। और दो चार दिन नए ताज की तरह वह अपने सिर से धोती अलग न होने देता। फिर पांचवें दिन उसकी घर वाली, मंगली, उसे अपने अधिकार

में कर लेती और उसके बाद किसी त्योहार के दिन उसे मगली के शरीर पर ही देखा जा सकता था।

कल्लू के विषय में एक बात बड़ी अजीब है। शक्ल सूरत के अलावा यद्यपि उसका स्वभाव बहुत अच्छा है फिर भी जाने क्यों छोटे बच्चों का प्यार उसे नहीं प्राप्त हुआ। बच्चे उसे देखकर कोस भर दूर ही रहना चाहते हैं। उसे भी बच्चों के बीच रहना समय गंवाना मालूम होता है। बच्चों के प्रति उसके मन में यह दुराव क्यों है, यह मेरी समझ में आज तक नहीं आया। मैंने बहुतों को देखा है कि वे भले ही स्वभाव के बुरे या चिड़-चिड़े हों, परन्तु बच्चों के लिए इतने कोमल और मीठे कि कुछ न पूछिए! परन्तु स्वभाव का अच्छा होकर भी कल्लू में बच्चों के प्रति मोह का न होना सचमुच अजीब बात है। जहाँ तक मुझे याद है मैंने कभी उसकी गोद में कोई बच्चा नहीं देखा। उसका लड़का, प्यारे, जो अब काफी बड़ा यानी पूरा आदमी हो गया है, शायद अपने बाप की गद्दीदार गोद का कभी अनुभव न किया होगा। सुना है, प्यारे की दुलहिन को लड़का होने वाला है। शायद पोते को खिला कर कल्लू के मन की यह कालिख धुले और बच्चों के प्रति उसमें कुछ मोह उत्पन्न हो। मैं यह तो नहीं मानता कि उसके भीतर बच्चों के लिए कोई आकर्षण ही नहीं, परन्तु उसका आकर्षण आज निर्बल हो गया है उसे सहारा चाहिये और शायद पोते की प्यार भरी किलकारी उसे सहारा दे और वह भी बच्चों में घुल मिल सके। सुना है, असल से सूद ज्यादा प्यारा होता है। संभव है, प्यारे को लड़का हो और बाबा की गोद में आकर वह बाबा के हृदय में परिवर्तन कर सके।

मैं तो आज कल्लू को जिस रूप में देख रहा हूँ शायद वह जन्म जन्मान्तर से ऐसा ही है; क्योंकि लगभग पच्चीस-तीस वर्ष से मैं उसे

देखता आ रहा हूँ और सदा ही वह ऐसा ही रहा है। मुझे तो शक है कि शायद ऐसा ही वह दुनिया में आया भी हो, और ऐसे ही दुनिया से चला भी जाएगा। मेरे सामने तो उसकी पचीस-तीस साल पहले की भी आकृति है जो आज भी उसी तरह है—वही हट्टा कट्टा शरीर, कमर में लँगोटी, सिर पर धोती का साफा, बगल में झाड़ू दबाए हुए हाथ में खैनी तमाखू मलता हुआ वह जैसे पचीस साल पहले घर में आता था उसी प्रकार आज भी प्रवेश करता है। शायद संसार का परिवर्तन उसके सामने हार मान गया है। तभी तो वह सीना ताने उसी गति से आज भी चलता जा रहा है! उम्र के लिहाज से उसे बूढ़ा कहा जाना चाहिए, परन्तु उसे बूढ़ा कह कर उसके हट्टे-कट्टे शरीर का अपमान क्यों किया जाय?

लेकिन अब उससे पहले जैसी मेहनत जरूर नहीं हो पाती। पहले तो सुबह से शाम तक वह काम में पिसा रह कर भी कभी नहीं उकताया परन्तु अब उसका शरीर नहीं चलता। कितनी बार कहा कि कल्लू अब आराम करो, समझ लो तुम्हें पेंशन हो गई, तो वह एक फीकी, अरुचि की हँसी हँस कर कहता : "पेन्शन तो साहबों को मिलती है बाबू। हमारी पेन्शन तो यही है कि जैसे इतनी उमर इस ड्योढ़ी पर बिता दी है, उसी तरह बाकी जिन्दगी भी समाप्त हो जाय।"

सो, अब चाहे काम न हो तो भी वह झाड़ू लेकर एक बार आ अवश्य जाएगा। काम तो अब उसका लड़का प्यारे करता है, लेकिन कल्लू की जो आदत जिन्दगी भर की पड़ी है वह कैसे छूटे?

लेकिन यह पहिला अवसर है जब वह लगातार आठ दिनों से नहीं आया। आज मैंने आदमी भेजकर खोज-खबर ली कि कहीं बीमार तो नहीं हो गया। तो जो कारण पता लगा वह भी उसके चरित्र के अनुकूल ही है।

सुना है, वह मातम मना रहा है। कारण यह कि प्यारे की दुलहिन ने एक लड़की को जन्म दिया है। कल्लू के लिए यह तो परिवार पर वज्रपात हुआ है। वह मातम मना रहा है। घर में केवल एक जून ही चूल्हा जलता है। कल्लू कहीं आता-जाता नहीं, कौन-सा मुंह लेकर कहीं जाए? उसे बड़ी उम्मीद थी कि उसे गोद में पोता खिलाने का सौभाग्य मिलेगा पर यह जो लड़की हुई है सो वह समझने लगा है कि उसको बुढ़ापे में दुर्दिन ही देखने हैं। लड़की का होना कितना अशुभ है कोई कल्लू से पूछे! जनम-जनम से संजोकर रखी उसकी साध इस लड़की ने मिटा दी। बुढ़ापे का सारा उत्साह ठंडा हो गया।

मैंने कल्लू को बुलवाया है। उसे समझाऊँगा और बताऊँगा कि घर में कन्या का होना शुभ है, अशुभ नहीं। कन्या लक्ष्मी होती है।

इसी सिलसिले में मुझे एक घटना और याद आती है। ठीक यही समस्या एक बार और उपस्थित हुई थी। जब प्यारे तीन साल का था तब कल्लू के एक लड़की हुई थी। और लड़की हुई नहीं कि उसने रोना-पीटना शुरू किया और लगा देने अपनी पत्नी को गालियाँ जाने कहां कहां की और किस किस भाषा में! मानो लड़का या लड़की को जन्म देना मगली के हाथ था या यह अक्षम्य अपराध उसने जान-बूझ कर किया है। लेकिन कल्लू को कौन समझाता? वह तो यही कहे जा रहा था कि यह ऐसी अभागिन है कि एक बेटे के बाद फौरन ही लड़की! उसने कई ऐसी औरतों के नाम भी लिए जिन्होंने लगातार पांच पांच बेटे पैदा किए हैं। वह कहता कि जो औरत लगातार पांच बच्चों को जन्म दे वह पाण्डवों की मां कुन्ती, जो चार बेटों को जन्म दे वह अयोध्या की रानी और जो तीन बेटों को लगातार पैदा करे वह भी किसी से कम भाग्यवान नहीं। एक ही घर में ब्रह्मा विष्णु और महेश! और एक कलमुंही मंगली है जो एक के बाद ही ठप्प

हो गई और अब पैदा भी किया है तो यह सूर्पनखा—डाइन ! कल्लू का विश्वास है कि लड़की के बाद होने वाले लड़कों के भाग्य पर लड़की के अभाग्य की छाया आजीवन रहती है। और अपने ही घर में उसे लड़की के अभाग्य का उदय देखना पड़ा ! उसकी पत्नी न तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश दे पाई, न अयोध्या की रानी का यश पा सकी, न पाण्डवों को जन्म देकर नारी श्रेष्ठ कुन्ती बन सकी।

सचमुच कल्लू के अभाग्य को क्या कहा जाय ? परन्तु कल्लू भी अपनी जिद का एक ही निकला ! उसने मंगली से कहा कि लड़की को किसी को दे दे, कोई भी सन्तानहीन इसे ले लेगा। परन्तु भला मंगली कैसे तैयार होती ! माँ की गोद का खिलौना चाहे लड़की हो या लड़का—बराबर होता है। मातृत्व का स्नेह केवल भरी हुई गोद चाहता है। गोद में क्या है, यह जानना-समझना उसका काम नहीं। सो, भला मंगली अपने जीते जी अपने कलेजे के टुकड़े को किसी और को क्यों दे दे ? जब कल्लू बाहर बरामदे में बैठा मंगली और उसकी फूल जैसी बेटी को गालियाँ देता, शाप देता तो वह गीली आंखों से बेटी को बिसूरती और उसे चूम चूम कर अपने आँसू किसी प्रकार रोकती। उस दिन जब कल्लू ने सामने खड़े होकर कहा : "अगर इस आफत को तू घर में रखेगी तो मैं घर छोड़कर चला जाऊँगा।"

तो मंगली ने बहुत धीरज से समझाने की कोशिश की : "तुम्हें क्या हो गया है। बिना लड़की के घर की कोई शोभा है ? और जानते नहीं क्या कि संसार में आकर अगर कन्या-दान का पुण्य न किया तो जन्म अकारथ होता है।"

तो कल्लू गरज पड़ा था मानो कोई जहर को मिठाई कह कर उसके गले के नीचे उतार रहा हो : "तू चुप रह, तुझे बोलने का कोई हक नहीं। अरे अगर तुझे तनिक भी घर की और मेरी भलाई की फिकर होती तो कम

से कम तीन या चार बेटे के बाद तो अपनी यह हविश पूरी करती। इतनी जल्दी क्या पड़ी थी इस कलमुंही को अभी से लाने की। वह जानती है जिस दिन यह पैदा हुई है उसी दिन से मेरा नसीब फूट गया—उसी दिन मुझे जमादार की मार सहनी पड़ी। और उसी दिन से रोज गाली-गलौज हो रहा है। ससुरा दलेल की धमकी देता था। मैंने तो समझ लिया कि किस्मत ही फूट गई, नहीं तो भला ऐसा भी दिन देखना था कि सुबह से शाम तक गाली-मार। नहीं तो थी भला किसी की हिम्मत कि जुबान टेढ़ी निकाले या नजर तिरछी करे ? जुबान काट लेता। आँखें फोड़ देता। लेकिन क्या करूँ, बुरे वक्त में कोई भी कह ले—सहना ही पड़ता है।"

अब भला मंगली क्या कहती ? कलेजे के टुकड़े को कलेजे से और चिपका लिया। आंखों से आँसू बहे और उसने ओंठ दाबकर चीख को रोक दिया। कल्लू के सामने वह रो भी तो नहीं सकती थी!

तभी कल्लू ने फिर कहा : "और तुम कन्यादान की फिकर क्यों करती हो। अभी बहुत उमर बाकी है। तीन-चार लड़कों के बाद लड़की होगी। और नहीं तो जिसके दो लड़कियाँ होंगी एक मांग लेंगे। कोई भी खुशी से लड़की दे देगा—बस ब्याह का खर्च सहने को कोई राजी हो जाय। रही बात कन्यादान के पुण्य की, सो अगर किस्मत में होगा तो उसके लिए भी भगवान प्रबन्ध कर देगा। नहीं होगा तो कोई बात नहीं। सब कोई सभी पुण्य नहीं पा लेता। अभी तो घर में खाने को भी नहीं पूरता। लड़के होंगे, बड़े हो कर घर सम्हालेंगे—हमारी मदद नहीं करेंगे तो लड़की किस मदद की होगी ? जङ्गली बैल की तरह बढ़ेगी—शादी की फिकर करो, पैसे खर्च करो, परेशानी अलग और बिरादरी वालों के नाज-नखरे अलग। जिनका कभी मुँह न देखा उनके पाँव छूने पड़ेंगे।"

कल्लू के इस सारे भाषण को चुपचाप मंगली ने सहा। वह कुछ न बोली।

किस मुँह से बोलती ? लड़की को जन्म देकर उसने पति के हृदय पर जो प्रहार किया है उसे भला कैसे भूलती ? परन्तु वह अपनी प्यारी बेटी को किसके आगे सौंपे जहाँ उसे इत्मीनान हो। काश, वह अपनी जान देकर भी बेटी को बेटे में बदल पाती! पर यह सब भी क्या मङ्गली या कल्लू के हाथ में था ?

और पति-पत्नी के बीच उस कन्या के जन्म ने जिस खाई का निर्माण किया, वह आज तक कायम है। कलह का सूत्रपात उसी दिन हो गया था कल्लू फूटी आंख भी लड़की को न देख पाता और मङ्गली उसे आँखों से ओझल न होने देती। लड़की को लेकर उन दोनों में गांठ पर गांठ पड़ती गई। लड़की महीने भर की भी न हो पाई थी कि एक रात उसे दस्त शुरू हुए और बुरी तरह रात के कारण कुछ दवा-दारू भी न की गई और सुबह होते होते लोगों ने सुना कि कल्लू की नवजात लड़की चल बसी! शायद वह लड़की बहुत होशियार थी। मां-बाप के बीच झगड़े की जड़ बनकर रहने से न रहना ही उसने उचित समझा।

परन्तु मङ्गली के दुःख का क्या कहना!

लेकिन लोगों को शक था, बाद में यह विश्वास में बदल गया कि लड़की की स्वाभाविक मौत नहीं हुई। कल्लू ने जरूर ही कुछ किया होगा! परन्तु यह विश्वास लोगों के मन में ही रहा। किसकी हिम्मत जो कल्लू के सामने जुबान खोलता ? वह कच्चा ही खा जाता!

उस लड़की की मृत्यु को कुछ दिनों में लोग भूल गए, पर उसे मंगली न भूली और न भूली वह मातृत्व के उस अभिशाप को कि उस लड़की के जाने के बाद फिर कभी मंगली की गोद न भरी। अक्सर उसे याद करके वह रोती तो कल्लू समझाता : "भला लड़की के लिए भी कोई रोता है! लड़की दूसरों के घर के लिए ही होती है। आज या

कल उसे यह घर छोड़ना ही पड़ता। कहो उसके भाग्य अच्छे थे कि भगवान की गोद में चली गई।

मंगली कल्लू की इस वक्तृता को खूब समझती थी। वह खून का घूंट पीकर रह जाती। जबान न खोलती। और अब जब छोटे बच्चे कल्लू के पास न आते तो वह कहती—"देखो जब तुम्हें अपनी बच्ची प्यारी न थी तो दूसरे बच्चे तुम्हें कैसे प्यार करें ?"

"हाँ, हाँ न करें। मुझे ऐसे बच्चों की ललक भी नहीं। जब भगवान ने हमें ही नहीं दिए तो दूसरों के खिला कर पेट नहीं भरना है। जूठन चाटने से कभी किसी की भूख मिटी है ? जीता रहे मेरा प्यारे। मुझे सब मिला समझो।"

और आज फिर वही घटना जैसे दुहराई जा रही हो। कल्लू के घर फिर लड़की हुई है। यह उसकी दूसरी संतान थी, परन्तु प्यारे की तो वह पहली संतान है। कल्लू के दुःख का मैं अन्दाज कर रहा हूँ। उसके दिल पर क्या बीत रही होगी, यह भी समझ रहा हूँ। कल्लू का स्वाभिमान है जो उसे झुकने नहीं देता, परन्तु एक चोट उसे तब लगी थी जब मंगली ने लड़की को जन्म दिया था। तब वह बिलबिला गया था। दूसरी चोट आज लगी है।

देखिए न, आठ दिन हो गए। लड़की हुई, इसीलिए खबर नहीं। अगर लड़का हुआ होता तो कल्लू आज खुशी से नाचता फिरता और गाँव भर को नचा देता, हँसा देता। आज उसके मातम का दिन है।

मेरी नौकरानी ने बताया--जिस दिन लड़की हुई थी उस दिन हँस कर मंगली ने कहा था—'देखा न प्रभू की महिमा ! हमें कन्यादान का पुण्य बदा है। अपने दरवाजे भी बारात अवश्य आएगी। भगवान की लिखी तकदीर आदमी के मिटाए नहीं मिटती !'

परन्तु कल्लू ने कहा था—"दूसरे के दरवाजे बारात लेकर जाना

कितनी बड़ी बात है, यह तुम औरत होकर नहीं समझ सकतीं। मेरी अकड़ तो उसी दिन समाप्त हो जायगी—जिस दिन मुझे बारातियों के पाँव धोना पड़ेगा, परन्तु मुझे भगवान बचाए! वह दिन आने के पूर्व ही मैं दुनिया छोड़ दूँगा--हे महावीर स्वामी हमारी लाज रखना—।"

कल्लू को विश्वास था—उसका स्वाभिमान नहीं नष्ट होने पावेगा।

मेरे बुलाने से भी कल्लू नहीं आया। आया शाम को। देख कर मैं सन्न रह गया। उसका काला शरीर सूख कर काँटा हो गया था। ठीक ही है, आठ दिनों से खाया जो नहीं! मैंने देखा तो लगा जैसे जिस बुढ़ापे से कल्लू अभी तक लड़ कर उसे दूर हटाता रहा वह एकाएक उस पर चढ़ बैठा है!

मैंने कहा: "कल्लू तुम भी पागल हो।"

करुणा-भरे शब्दों में उसने यों कहा जैसे उत्तर पहले से सोच रखा हो: "हाँ बाबू, पागल न होता तो तकदीर क्यों फूटती या यह दिन क्यों देखता?"

"क्यों इस तरह..." मैं कह भी न पाया कि उसने बात काट कर कहा: "घर से बिदा होकर आया हूँ बाबू, आप को प्रणाम करने आया था। माँ बेटे एक होकर लड़की की पैदाइश पर ढोल बजवावेंगे। मैं यह नहीं सुन सकता। अपने घर में यह पाप होने के पहले ही मैं कहीं चला जाऊँगा—तीरथ करने—चाहे काशी जी चाहे प्रयाग जी और वहीं जान दे दूँगा। अब मुझे गंगाजी की शीतल गोद ही चाहिए।"

कह कर कल्लू आँधी की तरह घूमा और भाग चला। आज उसके

सिर पर साफा वाली धोती भी नहीं— मानो राजा का ताज उतर गया हो ! वह कहता गया : " छिमा करना बाबू ! "

मैंने आदमी भेजे : कल्लू को पकड़वावें, पर कल्लू ने ललकार दिया : " मैं गला दबा दूँगा । "—फिर भला कौन गला दबवावे ? कल्लू का क्रोध भी उस जैसा ही काला था !

दौड़ कर मैं मंगली के पास गया—उसका भी अपना ही रंग ! बोली : " जाने दो उस पापी को बाबू, तुम क्यों परेशान होते हो । तीरथ जाना इतना आसान नहीं । और ऐसे अभागों को तीरथ नहीं मिलता । जो घर में आई लक्ष्मी को नहीं देख सकता, वह काशी जी क्या जायगा ! "

यही मंगली का अपना विचार है—परन्तु मैं जानता हूँ कि कल्लू अब न लौटेगा !

मन की करवट

उनकी बातों को मैं कुनैन की तरह गलेके नीचे उतार रहा था।

पर शायद उनकी भी यह मजबूरी थी कि वे इसी तरह पूरा घन्टा लेक्चर देकर हमें उपदेश करते।

मैं उनका आदर करता था, पिता के सामने चाचा कहता था।

वे मेरे पिता के दोस्त। गजब की हिम्मत! सारा जीवन, सारा धन-वैभव, सारा दिमाग मुकदमेबाजी के लिये अर्पण कर देनेवाले सांवल सेठ जी।

नाम से लोगों को गलतफहमी हो जाया करती थी। परन्तु कर्म से आप या तो उन्हें साम्यवादी कहेंगे या सनकी! शायद सनकी ही थे कि आज मुझे बैठाकर मुँह पर गाली दे रहे थे—डांट रहे थे, समझा भी रहे थे।

ही पड़ी है तो कुछ निबटारा कर ही डालूं। इसी विचार से मैंने प्रश्न किया :

"तो क्या मैंने यही सोचकर राष्ट्रीय काम शुरू किया था? मैं तो अपने कामों को कुरबानी मानता ही नहीं। यदि इतना ही नीचे गिर जाऊं तो हमारा आदर्श कहाँ रहा! जब आज सभी का मुंह इसी परमिट और लाइसेंस ने काला कर रखा है तो उससे दूर ही क्यों न रहूँ?"

इतना सुनते ही वे तो भड़क उठे :

'देखो, तुम मेरे सामने के बच्चे हो। मुझे आदर्श मत सिखाओ। बड़े-बड़े आदर्शवादियों को मैंने देखा है और उनका काला चिट्ठा भी जानता हूँ। मैंने तो अपना समझकर एक बात कही है। समझ में आवे तो ठीक है, नहीं तो कोई जोर जबरदस्ती थोड़े ही है! अरे मुझे ही देखो न! तुम तो आज देशभक्त बने हो न? इसी तरह मैंने भी तो गांधी के नाम पर सन् इक्कीस में क्या क्या तूफान नहीं खड़ा किया? शादी नहीं की, सारा जीवन इसी तरह काट दिया। घर का जमा जमाया रोजगार छोड़ दिया। हमारे दूसरे भाई आज गद्दी पर बैठते हैं और मेरी हालत तो देखते ही हो। यही नहीं एक दिन तो मैं सनक में आकर मुसलमान होने जा रहा था। हिन्दू-मुसलमानों को मिलाने का यही नुस्खा मुझे मिला था। पर भला हो उन मित्रों को जिन्होंने डांट-डपट कर मेरा जोश ठंडा कर दिया नहीं तो आज ..."

कहते कहते वे कुछ रुके और फीकी-सी हंसी का स्वाद लेकर उन्होंने फिर कहा :

"उन्हीं दिनों हरिजनोद्धार की भी लहर आयी थी और उस समय जो बेवकूफी की उसका परिणाम आज तक भोग रहा हूँ।"

कहकर कुछ खट्टे दिल से उन्होंने बगल की ओर आंखें गड़ा दीं।

"सो क्या?" मैंने उत्सुकता से पूछा।

"यह लम्बी कहानी है।" उन्होंने इस प्रकार सांस खींचकर कहा कि मुझे पूरा आभास मिल गया। "किसी दिन इतमीनान से बताऊंगा...।" उन्होंने एक क्षण रुक कर भरे कण्ठ से कहा।

मैंने समझ लिया कि शायद यह कोई दबा घाव है जिसे न कुरेदूं तो ही अच्छा।

और उस दिन अपनी इतनी-सी ही कहानी बताकर शायद भावनाओं और स्मृतियों में डूब कर सांवल सेठ मुझे परमिट और लाइसेंस लेने को बात भी भूल गये और थोड़ी देर बाद ही गुमसुम उठे और अपने तांगे पर बैठकर चले गये।

मैं देखता रहा, आश्चर्य में डूबा। उनका यह तांगा इस इलाके में प्रसिद्ध है। साल में नियमित रूप से दो घोड़ियों की हत्या का पाप इसके नाम के साथ जुड़ता जा रहा है। एक पुराना तांगा। तांगा क्या, उनके लिये तो वही सर्वस्व है। खुद ही हांकते हैं। कभी किसी को बैठा लें सो तो कोई बड़ी बात नहीं परन्तु आप कभी भी देख सकते हैं कि एक दिन उस पर वह पांच मन लकड़ी लादे लिये जा रहे हैं। किसी दिन तीन चार नाज के बोरे देख लीजिये और समझ जाइये कि किसी देहात में बाजार करने जा रहे हैं और नहीं तो किसी दिन कोयले के बोरे भी दिखायी पड़ सकते हैं। एक दिन तो घर की मरम्मत के समय सात मील से ईंट लादकर ले गये थे। यानी वह तांगा जो घोड़ी खींचती तो छः महीने की अवधि में ही सारे जीवन का रोना रो लेती!

और सांवल बाबू को इसका कोई खेद भी नहीं। घोड़ी को खिलाते भी कम। खरीद हुए पांच महीने हो जाते तो सुबह शाम कहते, अब इसके दिन हो पूरे गये! और यदि किसी तरह छठा महीना बीत भी जाता तो घोड़ी को वह नुमाइश की वस्तु बनाकर सब परिचितों से कहते फिरते, "अब तक चल रही है यह। कौआ खाकर आयी है!"

एक दिन मैंने कहा : "आपके साथ घर चलूँगा। जी नहीं लग रहा है।"

पर वे सदा की भांति टाल गये। "क्या करोगे चलकर, अभी मुझे कई जगह जाना है।"

"क्यों, आपने अपनी कोई देशभक्ति की कहानी बताने को कहा था।"

"किसी दिन कह दूँगा। आज नहीं।"

और फिर वह एक क्षण भी न रुके। लेकिन ऐसी कौन-सी घटना है जिसने देशभक्ति से उन्हें अलग कर दिया, यह जानने को मैं जैसे बेचैन हो रहा था।

बरसात का मौसम था। देहात की वह सड़क बरसात में बहुत खराब हो जाती थी बैलगाड़ी के चलने की मनाही हो जाती थी। आगे जो पुल है उसके पास के एक बूढ़े को म्यूनिसिपैलिटी से दो रुपये महीने मिलते थे बरसात भर। यह देखने के लिए कि कोई चोरी से बैलगाड़ी तो उस सड़क पर नहीं चलाता ? पर भला कहीं किसी का काम रुका है ? चार आने उस बूढ़े की हथेली में रखिये और शान से बैलगाड़ी ले जाइये। परन्तु बहुत से ऐसे भी ब्राह्मण ठाकुर थे जो रात के सन्नाटे में चुपचाप चवन्नी भी बचाकर निकल जाते थे और सुबह सड़क पर बनी लीक देखकर बुड्ढा हाथ मल कर रह जाता था। धीरे धीरे यह मर्ज बहुत बढ़ गया था और इसकी रोकथाम के लिये उसने सड़क के दोनों ओर खूँटा गाड़ कर बांस बांध कर व्यवधान बनाया था, ताकि जो भी सवारी आवे, उसे पुकारना पड़े।

एक दिन दोपहर को भी बाँस बाँधकर बुड्ढा कहीं चला गया था। साँवल सेठ अपना ताँगा लिये आ पहुँचे। आवाज दी, पर बूढ़ा न आया। तो गुस्से में आकर उन्होंने ताँगे की लैम्प का तेल छिड़क कर दिया-सलाई उस बाँस पर छुआ दी और खड़े होकर ललकार दिया कि अब

जो करना हो वह बूढ़ा कर ले ! बाँस जल गया और शान से ताँगा घुमाकर सीधे वकील के यहाँ गये और सड़क की बन्दी को गैरकानूनी ठहराकर म्युनिसिपैलिटी पर दावा कर दिया।

उनके इस नये मुक़दमे की चर्चा चारों ओर आग की तरह फैल गई। जिसने भी सुना खूब रस लिया। म्युनिसिपैलिटी पर मुकदमा ! हँसी की बात तो थी पर लोग साँवल सेठ की आदत से परिचित थे। यह तो म्युनिसिपैलिटी थी, यदि उन्हें कुछ अनुचित लग जाये तो वे कलक्टर पर भी मुक़दमा करने की हिम्मत रखते थे।

फिर तो सुना कि उनका कहना है कि यहीं तक नहीं वह तो इस मामले को हाईकोर्ट भी ले जायेंगे।

मैं भी उनकी इस हिम्मत पर खुश हुआ। एक दिन जब मैं अपने एक साथी को देखकर अस्पताल से आ रहा था तो अचानक उनके घर की ओर मुड़ गया। आज पहली बार उनके घर जा रहा था।

घर पहुँच कर मैंने आवाज दी। वह तो नहीं थे पर एक बहुत काली कलूटी अधेड़ उम्र की औरत ने आकर कहा कि वे बाजार गये हैं। उनके घर में इस औरत को देखा तो क्षण भर को ताज्जुब तो हुआ पर सोचा शायद यह उनकी नौकरानी हो। परन्तु उसके शरीर पर रगीन मद्रासी साड़ी और हाथों में सोने की चूड़ी तथा माथे पर अठन्नी बराबर गोल सिन्दूर देखकर उलझन में पड़ गया।

वह नौकरानी ही होगी। यही सोचकर अविश्वास के साथ मैं संतोष कर रहा था। पर उसकी बातचीत से जाने क्यों नौकरानी न होगी, यही रह रह कर मन में हो रहा था।

उस दिन तो घर वापस आ गया। फिर लगभग एक सप्ताह तक वे न आये और उनसे भेंट भी न हुई। तभी एक दिन अचानक सुना कि वे बीमार हैं।

भागा. भागा मैं उनके घर गया तो बाहर बरामदे में ही खाट पर उन्हें लेटा पाया।

मुझे देखकर वे उठ बैठे। मैं भी खाट पर बैठ गया। मैं कोई बात शुरू करूँ इसके पूर्व ही उन्होंने कहना शुरू किया :

"औरत की जात कभी वफ़ादार नहीं हो सकती।"

मेरे कान खड़े हो गये। मुँह से बोल न निकला। मैं जिज्ञासा की दृष्टि से ताकता रहा। उन्होंने कहा :

"तुम तो जानते ही हो कि मैंने चेयरमैन पर मुकदमा किया है। कुछ रुपयों की जरूरत थी। मैंने उससे कहा कि लाओ अपनी सोनेवाली चूड़ी दे दो। बंधक रखूँगा, फिर छुड़ा लूँगा। पर औरत भला सुख दुख क्या जाने ? नहीं, दिया, नहीं दिया। मैंने उसे डाँट दिया। आखिर मेरी ही बनवायी तो वह चूड़ियाँ थीं। चुड़ैल ! कुत्ते की दुम कभी सीधी हुई है ? नीच जाति की है, भला मान-अपमान क्या समझे ! मैंने उसके हाथ उमेठ कर चूड़ियाँ उतार लीं, इसी पर वह चुड़ैल झगड़ कर देहात चली गयी।"

"कौन ?" मैं पूछ ही तो बैठा।

"अरे वही, और चली गयी तो जाने दो उसे बुलाने न जाऊँगा। अपने को जाने क्या समझती है ! ऐसी ऐसी मुझे बहुत मिल जायेंगी। वह तो गाँधी जी के अछूतोद्धार के चक्कर में पड़कर मैंने उसे अपना लिया था, नहीं तो उस चमारिन को कौन पूछता ? वह यह भूल गयी है कि मैं उसे रानी बना कर रखे हूँ। आज उसी की वजह से जातबिरादरी सब छूट गयी।"

कहकर वे चुप हो गये। तकिआ गोद में रख कर आकाश की ओर घूरने लगे।

मेरे सामने उस दिनवाली औरत की छाया आ खड़ी हुई। तो वह चमारिन थी ! और शायद यही राज था जो ये सदा हमसे छिपाते आये हैं। मेरे मन में गुदगुदी पैदा हो गयी। एक अजीब-सी कल्पना में मैं डूब गया।

मेरे सामने इस व्यक्ति का व्यक्तित्व पहले से भी अधिक उलझ गया।

इसके आगे कुछ जानने-समझने को न बचा। उनके इस नये रूप का परिचय पाकर मैं चकित हूँ।

और उस दिन वापस आकर फिर दो महीने उनके पास न जा सका। पता नहीं क्यों उनकी उस प्रेयसी की कल्पना और आदर्शवाद का यह रूप सुनने-समझने में तो अच्छा लगता था परन्तु मुझमें इतनी शक्ति न थी कि उनके सामने बैठकर उसके विषय में भलाबुरा सुनता। ठीक भी है, कि जब एक बार किसी को जीवन भर के लिए गले लगा लिया तो पछतावा क्यों?

आज अचानक सुना कि उनकी तबीयत ठीक नहीं हो पा रहीहै। कुछ अधिक ही बिगड़ गयी है। मैं अपने को विवश कर वहाँ गया।

बड़ी देर बाद पीड़ा की एक कराह के बाद उन्होंने मुँह खोला और टूटते स्वर में कहा :

"बेटा देशभक्ति में पड़ कर तो मैं अपनी जाति-बिरादरी से भी गया। तुमसे एक प्रार्थना है। मानोगे?"

मैंने 'हाँ' के स्वर में सिर हिलाया।

"मैं मर जाऊँ तों आग दे देना। और भला कौन आयेगा मेरे उस काम में! यह बेचारी जैसा कहे प्रबन्ध कर देना। तुमसे इसलिए कह रहा हूँ कि तुम देशभक्त हो और मेरे मन की करवट को पहचानोगे।"

मैं देशभक्त हूँ। हाँ, अवश्य हूँ। मन में जाने कौन यही ललकार दे रहा था। सिर उठाया तो देखा कि वह सिरहाने खड़ी आँसू बहा रही थीं। उसके आँसुओं ने मुझको हिला दिया।

मैं देशभक्त हूँ। उनके मन की करवट को पहचानता हूँ"

लगा कि उठकर मैं उस औरत के आंचल में सिर डालकर रो पड़ूँ। मैं शायद, उसके मन की करवट कों भी समझता हूँ।

जीवन का सत्य

बलराज के जीवन पर फाइलों का इतना बड़ा अम्बार लद गया है कि वह इसके बाहर कुछ सोच ही नहीं पाता। अपना जीवन वह एक ऐसे बोझ से दबा पाता है कि उसके आगे उसकी कल्पना उड़ान ही नहीं भर पाती। घर में, बाहर, हर जगह उसे वही फाइलें, वही विवशता दिखायी पड़ती हैं, जिसे वह अब आदत पड़ जाने के कारण जीवन की एक आवश्यकता मानने लगा है। फाइलों से दब कर जिस कुढ़न, जिस घुटन का वह अनुभव करता रहा है वह भी तो अब उसका स्वभाव बन गई है। परन्तु इस घुटन और कुढ़न की भीड़भाड़ के बीच कभी कभी ऐसे भी क्षण आते हैं जब फाइलों से दबा-चिपका रहकर भी वह फूलों के सपने देख लेता है। और शायद ये कभी सच न होने वाले सपने ही जीवन की गति को आगे बढ़ाते और सहारा दिये रहते हैं।

आज भी दफ़्तर से आकर फिर साथ लाई हुई फाइलों के बीच में अपना सिर उसने गाड़ दिया है। सुबह ही उसने अपनी पत्नी से तय किया था कि आज सिनेमा चलेगा। लेकिन शाम को लौटा तो फाइलों का यह अच्छा खासा बस्ता लादे हुए! इसीलिए आज उसकी हिम्मत न पड़ी कि वह रोज की तरह सरला को पुकार कर उससे दो मीठी बातें कर लेता। जब वह आया था तो सरला रसोईघर में चा बना रही थी। बलराज सीधे अपने कमरे में आकर कपड़े बदल कर सुबह का अखबार पढ़ने लगा था। उदासी आदमी को कितना थका देती है कि वह सुबह पढ़ी हुई सारी खबरों को फिर एक निर्जीव, शक्तिहीन, मस्तिष्कहीन व्यक्ति की तरह पढ़ गया। वे खबरें उसे न तो नई लगी न पुरानी। न कोई याद हुई न किसी ने उस पर कोई प्रभाव डाला। शायद वक्त काट देने के लिए वह पढ़ रहा था और सचमुच अखबार के नाम की पंक्ति से अंतिम पृष्ठ की अंतिम लाइन—प्रेस के नाम की लाइन—को भी वह पढ़ गया। इस उद्देश्यहीन पढ़ाई के बाद उसमें दिन भर की थकान को उड़ा देने वाली शक्ति का संचार हो आया और वह उठकर अपनी मेज पर जा जमा।

और फिर वही चक्र—वही भूरी फाइलें, वही लाल फीते, वही चिट्ठियाँ, वही जवाब, वही बलराज और उसका वही मस्तिष्क! दिन भर के काम से फिर एक नाता जुड़ गया। सिनेमा का प्रोग्राम और सरला की नाखुशी वह भूल गया। तभी हाथ में चा का प्याला लिए सरला आ गई। उसे नौकरानी ने केवल यह बताया था कि बलराज आ गया है और कमरे में है, परन्तु यह देखकर उसे तनिक हैरानी ही हुई कि वह फिर फाइलों में जुट गया है। काम करने के इस ढङ्ग को लेकर उसे कई बार बलराज से झगड़ना पड़ चुका है, पर वह भी क्या करे? इतना तो वह समझती ही है कि जीने के लिए काम करना और बैलों की तरह

काम करना आवश्यक है। कल ही तो उसने बलराज से कहा था कि रात को यह काम कर लिया करे। शाम केवल टहलने, गप्पें करने के लिए रखे। पर वह भला क्या करे या कहे ? बलराज केवल क्लर्क नहीं। अफसरों की पीढ़ी का क्लर्क है--यानी वह क्लर्क जो क्लर्की करके भी दफ्तर में अफसर कहा जाता है। अपने साथियों से थोड़ी ऊँची कुर्सी है उसकी। इसीलिए दफ्तर की यह फाइलें घर तक पीछा करती हैं। आगे आगे यह आता है और उसकी चमकती सायकिल के पीछे पुरानी सायकिल पर फाइलें बांधे चपरासी आता है। घर में फाइल रखकर चपरासी बलराज को बहुत लम्बी सलाम करके चला जाता है। दुनिया चाहे चपरासी के इस सलाम को उसका रोब कहे, आधिपत्य कहे—पर वह अपने को खूब जानता है। अपनी स्थिति को भी खूब पहचानता है। चपरासी का यह सलाम कोई आदर की निशानी नहीं, परन्तु बलराज के प्रति एक बहुत बड़ा परिहास है। उसे लगता है जैसे सलाम के साथ चपरासी कह रहा हो : "हुजूर, मैं तो अब चला। यह रही फाइलें और आपका शाम का, रात का और सुबह का पूरा वक्त। आप अफसर हैं--पीसिए। मैं तो चपरासी हूँ—बालबच्चे वाला, कल सुबह तक के लिए आजाद !"

सरला ने आकर छोटी मेज उसके पास खींच कर उस पर प्याला रख दिया। पहले तो वह कुछ न बोली। उसे आया जानकर बलराज को तनिक डर लगा। कहीं सरला ने सिनेमा की बात पूछ ली तब क्या होगा ? इतना काम सब पड़ा रह जाएगा। अतः उस बात को आने के पूर्व ही समाप्त कर देने के इरादे से उसने कहा : "क्यों सरला तुमने क्यों ...? नौकरानी से भेज देतीं।"

"कोई बात नहीं। पर यह फाइलें लेकर फिर क्यों बैठ गए ? क्यों नहीं थोड़ा आराम कर लेते ?"

"नहीं, थोड़ा जरूरी काम है, उसे निपटा दूँ फिर तो.....।"

"देखो न आज क्यारियों से सारी घास निकाल दी गई हैं। सभी फूल किस तरह मुस्करा उठे हैं!"

एक फीकी मुस्कराहट बलराज के सूखे चेहरे पर भी फैल गई। उसका जी चाहा कि कह दे कि दिन को फूलों को देखने की उसे फुर्सत कहाँ। उसे तो केवल रात को सपनों में फूल दिखाई पड़ते हैं। सपनों में ही वह क्यारियों में भी टहल लेता है। और क्या इतना ही काफी नहीं?"

पर वह कह न सका। जाने इसे सरला किस रूप में ग्रहण करती! सो वह चुप ही रहा। लेकिन सरला कैसे चुप रहती! उसके हृदय में जो तूफान लहरा रहा था उसे वह किसके सहारे दबाती? उसने कहा : "उठो, चलो। चा पीलो। थोड़ा बाहर टहल लें। नहीं तो इतनी मेहनत करके कहीं बीमार पड़ गए तब?"

बलराज ने अपनी उसी बनावटी मुस्कान के बीच कहा : "नहीं, बीमार नहीं पड़ूँगा। जानती नहीं, आज के हम जैसे लोग बीमार नहीं पड़ते, शान से जीते हैं, पिसते हैं बस एक दिन पूरी तरह... "

काँपकर सरला ने बलराम के ओठों पर हथेली दाब दी। वह जानती है कि बलराज क्या कहने जा रहा है। और वह जो कहने जा रहा है उसे सुनने की शक्ति उसमें नहीं। बात को समाप्त करने के लिए प्याला उठाकर उसने बलराज के हाथ में दे दिया। चा का पहला घूँट पीकर बलराज ने कहा : "सरला, नाराज न होना, कल सिनेमा का प्रोग्राम रखेंगे!"

"तो मैं कहाँ कहती हूँ कि आज चलो। और सुबह भी मैंने तो कहा नहीं था, तुम्हीं ने तो अपनो ओर से प्रोग्राम बना लिया था।" यद्यपि यह सरला ने बड़ी सफाई से कहा था, फिर भी बलराज को यह समझते देरी न लगी कि सरला सचमुच कुढ़ गई है। उसने फौरन ही कहा : "अच्छा, तुम तैयार हो जाओ। मैं भी बस यह समाप्त कर लेता

हूँ, चले चलेंगे। देर तो हो गई है। शायद सिनेमा न मिले, पर थोड़ा घूम ही लेंगे। दो प्याले काफी ही सही...।"

"नहीं, ऐसी आवश्यकता नहीं कि हड़बड़ी में चलो। हाँ, चाहे थोड़ी देर के लिए काम बन्द करके क्यारियों में टहल लो तो जी अवश्य बहल जायगा। आज क्यारियों की सब घास मैंने खुद निकाल दी है। सिंचाई भी हो गई है। सभी पौधे ताजे हो गए हैं, जैसे बरसों बाद पानी मिला हो।"

"अच्छा मैं उठता हूँ। पर सचाई यही है कि सरला का फूल मेरे लिए नहीं है। मेरा नाता तो इन फाइलों से है और क्यारियाँ तुम्हारे लिए है।"

सरला बलराज के इन वाक्यों का अर्थ खूब समझती है। वह अधिक कुछ कह कर अपना व बलराज दोनों का जी भारी नहीं करना चाहती। जब भी बलराज इस प्रकार की बातों से उसे हिला देता है तो उसका जी काँप उठता है और उसके सामने उसका अतीत अट्टहास कर उठता है। जीवन के प्रथम क्षणों में उसने जीवन की क्या कल्पना की थी और आज जीवन का क्या रूप बन कर रह गया है! वह रोज ही इस प्रकार सोचकर अपना जी हलका कर लेती है। उसने जो भी कल्पना अपने जीवन की की थी और जो प्रत्यक्ष होकर रह गया है, उसके लिए अगर यही कहा जाए कि उसने फूलों की दुनिया की कल्पना की थी, परन्तु अदृश्य के क्रूर हाथों ने उसके फूलों को मसल कर उसकी सजी-सजाई क्यारियों को उजाड़ दिया, वीरान करके उसकी आँखों के सामने लाल फीतों से बँधी भूरी भूरी फाइलें सजा दी हैं तो गलत न होगा। और फाइलें जिन्हें देखना न चाह कर भी वह विवश होकर देखती है—प्यार की निगाह से देखती है।

बलराज के पास से आकर वह रसोई घर में चली गई। खाने का

प्रबंध करना है। परन्तु उसके हृदय के घाव को बलराज ने दुखा दिया था और वह अब उस घाव से उठी टीस को सहला रही थी।

उसे सब याद है—जब उसके शादी की बात चली थी। उसके पिता ने उसे पूरी आजादी दे दी थी—पसन्द का पति चुन लेने के लिए। तब वह कितनी आशाओं के साथ बलराज की ओर आकर्षित हुई थी। और सच भी तो है, तब के और अब के बलराज में कितना अन्तर है!

तब बलराज कालेज से नया नया चिकना-चुपड़ा निकला था। सुना था उसे साहित्य से भी प्रेम था। कुछ कहानियाँ लिखी थीं जो अखबारों में फोटो सहित छपी थीं। हलकी सी शोहरत हो चुकी थी। बड़े बूढ़े पीठ ठोंक कर कहते थे: "बस बेटा लिखे जाओ, नाम करोगे।"

और क्या इतना ही सरला को लुभाने के लिए काफी नहीं था? लेकिन शादी के पश्चात् जब जिन्दगी को घसीट कर चलाने का सवाल उठा तो जैसे बलराज की सारी प्रतिभा, सारा तेज मात खा गया। नौकरी लगी तो वह इस प्रकार नौकर बन गया कि उसके आगे पीछे कुछ न रहा। और सरला भी अब समझ बूझ कर, और अच्छी तरह जान कर भी कुछ न कह सकी। किस बूते पर कहती? जब भी बातें होतीं तो गृहस्थी के लिए चार सौ रुपए महीनों का प्रश्न, बीमार के भविष्य की तरह आ उपस्थित होता! बलराज का काम था कि वह महीने भर अधिक से अधिक रुपया कमाए और सरला कम से कम खर्च करे। दोनों ही अपने अपने काम बाजी लगा कर करते और महीने के अन्त में लेखा जोखा बराबर! इतना न बच पाता कि अगले महीने आराम हो सके या कोई नया रास्ता निकाला जा सके। जिन्दगी की इसी भीड़भाड़ में साहित्य का प्रेम मधुर सपने की तरह गायब हो गया और कहानियाँ—जो शादी के पूर्व लिखी गई थीं—आज तक नव हो पायी हैं। जैसे सारी प्रतिभा, सारी प्रगति, में मोरचा लग गया है!

और सरला देखती है कि उसने क्या सोचा था और क्या हो गया ! न तो वह मनलायक घर ही बना पायी, न मनलायक बाग की क्यारियाँ ! वह केवल उसमें अच्छे फूलों की कल्पना भर कर सकती है। उसके खिलने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

और यहाँ बलराज भी लगातार सोचता जा रहा है। सरला को नाराज कर उसने अच्छा न किया। अब न तो काम में जी लग रहा था, न उसकी हिम्मत ही हो रही थी कि सरला से फिर कुछ कहे। सरला का नाराज होना उचित ही नहीं, स्वाभाविक भी है। सरला को एक मैना की तरह पिंजरा में बन्द करके उसने उसकी एक प्रकार से हत्या कर डाली है। सरला पहले जैसी अब रह भी कहाँ गई है ? वह तो घर की इस बड़ी मशीन की एक पुरजा है। दिन रात काम, झंझट ! न सुख न शांति। और इन सब का जिम्मेदार वह अपने को पाता है। वह अगर समझदारी से काम लेता तो जीवन को कुछ अधिक सौन्दर्यपूर्ण अवश्य ही बना पाता। लेकिन अब उसने बना रखा है यही फाइलें—भूरी भूरी बदसूरत !

छिः ! उसका जीवन भी केवल एक फाइल बन कर रह गया है। वही पुराने कागज, एक ढंग के एक जैसे। झूठी शान के लिए लाल फीता का बन्द ऊपर से। न कोई स्थिति का बदलाव न नयापन। तो क्या बलराज कोल्हू के बैल की तरह सदा ही इन फाइलों के चारों ओर नाचता रहेगा ? क्या कभी उसके जीवन में रस का संचार न होगा ? यद्यपि वह ऐसे बहुत से लोगों को जानता है जिन्होंने सचमुच अपना सारा जीवन फाइलों के साथ ही काट दिया और उन्हें कोई अफसोस भी नहीं, परन्तु बलराज अपने को उनकी श्रेणी से अलग – बिलकुल अलग—रखना चाहता है। और बलराज में उनमें अन्तर भी है। कम से कम बलराज फूलों के सपने तो देख लेता है !

सोचते-सोचते बलराज बहुत व्यथित हो गया। न काम हो पाया न वह सिनेमा ही जा सका। वक्त योंही बेकार गया और ऊपर से मन जो भारी हो गया सो अलग। उसने नौकरानी को पुकार कर कहा कि सरला से जाकर कह दो कि जल्दी ही तैयार हो जाए। घूमने जाना है। उसने सोचा कि सरला तैयार हो रही होगी, शायद थोड़ा टहल लेने से उसका भी जी हल्का हो जाए! उसे लग रहा था कि सरला के दो बार कहने पर भी वह क्यारियों में न घूमा। यह अनुचित हुआ। सरला तो क्यारियों को सजाने के लिए, हरी भरी रखने के लिए खुद घास निकालती है, पानी सींचती है। फिर अपने श्रम के इन फूलों को मुस्कुराते दिखाने का उसका आग्रह उसने क्यों टाल दिया? अवश्य ही सरला कुपित हुई होगी। परन्तु अब किया भी क्या जाए?

खैर, वह घूमने जाएगा तो सरला को खुश कर लेगा। बस, एक यह फाइल समाप्त कर ले, केवल चार पाँच मिनट लगेंगे। बहुत आवश्यक है। कल यह फाइल पूरी होकर डाइरेक्टर के पास पहुँचनी है। तो फिर वह अपना सिर झुका कर काम करने लगा।

अचानक उसे बाग में कुछ आहट मालूम हुई। एक दम से सिर उठा कर खिड़की के बाहर देखा तो वह चीख पड़ा। एक गाय बाग में घुस गयी थी और सरला द्वारा आज ही सींचे गए पौधों पर अपने नथुने मार-मार कर फुनगियों को खाए जा रही थी। उसे लगा जैसे बसे बसाए छोटे से दीवार पर यमराज का क्रूर पंजा पड़ गया हो। घबड़ा कर वह उठा कि गाय को भगा दे कि उसके उठने से मेज पर इतनी जोर का धक्का लगा कि कलमदान से नीली स्याही का दावात उछल पड़ी और डाइरेक्टर के यहाँ कल पहुँचने वाली फाइल पर उल्टी गिरी। सारी फाइल उस रोशनाई से सराबोर! अरे, यह क्या हुआ? अब क्या होगा? वह निश्चय न कर पाया कि पहले गाय को भगाए या पहले फाइल की स्याही सोखाए?—फूलों

को बचाए या फाइल को? कि तभी आँगन से नौकरानी चीख उठी। "बाबू जी, दौड़िए। बहू जी के पाँव पर दाल की बटलोही गिर पड़ी। बहू जी जल गयीं। डाक्टर को बुलाइए।" फूलों और फाइलों दोनों को भूल कर वह भीतर भागा। इन दोनों से पहले उसे सरला की रक्षा करनी है।

समाज सेवा

लोगों की आंखें अपने आप उस ओर उठ जाती थीं।

···'नौ या दस साल का वह लड़का, उम्र का ठीक अंदाज भी नहीं लगाया जा सकता। जमीन में उसका सिर गड़ा था, पेट के बल वह पड़ा था। चौराहे की सड़क के किनारे की घास बिछावन बनी थी।...

बस इतना ही देखा जा सकता था। यह जानना कठिन था कि वह कितनी गहरी नींद सो रहा था।

परन्तु वह मर चुका था।

उसे देखते ही मन में करुणा की लहर उठ आती थी। उसे देखकर रुकने की, कारण जानने की, और अन्त में लाश को ठिकाने के प्रबंध करने की विवशता हो जाती थी। कोई भी पढ़ा-लिखा, भद्र कहलाने का हकदार उसे देखकर टालमटोल करके आगे नहीं बढ़ सकता था।

उस मृतक की विवशता, करुणा और मनुष्यता का अन्त देखकर पाँव ठिठक जाते थे।

शायद वह सुबह से इसी प्रकार पड़ा था। दोपहर तक वहाँ अच्छी-खासी भीड़ इकट्ठी हो गई। वह बालक अपने जीवनकाल में शायद किसी एक व्यक्ति का भी ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सका था, परन्तु आज मरकर वह इतने बड़े जनसमूह को अपने पास एकत्रित कर लेने में पूर्ण सफल हुआ था।

परन्तु जितने लोग भी वहाँ इकट्ठे हुए थे उनमें अधिकांश ऐसे ही थे जो शीघ्र ही उसी की स्थिति में पहुंच जाने वाले थे। 'भद्र' कहा जाने-वाला कोई भी नहीं था

जहाँ वह मृतक पड़ा था उस के दाहिने चौराहे के उसपार कचहरी है और बाईं ओर थोड़ा हट कर म्युनिसपैलिटी का छोटा अस्पताल। जगह तो अच्छी पाई है मरने के लिए! कचहरी और अस्पताल के बीच—न्यायालय और औषधालय के बीच। ऐसी जगहें जल्दी नहीं मिलतीं।

और जो भीड़ जमा थी वह कुछ नहीं कर रही थी। केवल प्रश्न कर रही थी—

कोई पूछता—"यह कौन था बेचारा!"

कोई उत्तर दे देता—"शायद मजदूर होगा।"

कोई दूसरा प्रतिवाद करता—"नहीं, यह वही चमार का लड़का है, याद नहीं, यहीं बैठकर जूता टांकता था।"

तभी एक समझदार व्यक्तिने कहा—"कोई भी रहा हो। अब इससे क्या? अब तो मिट्टी को ठिकाने लगाने का प्रबंध करना है।"

भीड़ में से एक ने सूचना दी—"एक बाबू ने टेलीफोन से म्युनिसिपैलिटी को खबर कर दी है।" पहले व्यक्तिने खीझकर कर कहा, "लेकिन कहाँ कोई आया?"

एक दूसरा व्यक्ति बोल उठा, "यह भी क्या कोई मरी हुई बिल्ली है जो फौरन एक स्थान से हटा कर किसी कूड़ेखाने में डाल दी जाय ? यह मनुष्य की लाश है और गंगातट तक ले जाने का प्रश्न है।"

यह बातें हो ही रही थीं, तभी अजय उधर से गुजरा। भीड़ देखकर वह भी स्वभावतः रुक गया। सफेद खादी के कपड़े पहने वह दूर से ही समाज-सेवी मालूम हो रहा था। अपनी आदत के अनुसार वह भीड़ में घुस गया और पूछ-ताछ शुरू की। भीड़ के कुछ लोग अजय को जानते थे। उन्होंने यह नहीं देखा कि किसलिये प्रश्न हो रहा है ? बस अजय कुछ पूछता और कोई भी फौरन जवाब दे देता।

अजय ने कहा, "कहीं से एक टूटी खाट का या किसी भी चीज का इन्तजाम करना पड़ेगा। लाश यों पड़ी पड़ी धूप में तो गरम नहीं होगी !"

अजय की इस बात का किसी ने उत्तर न दिया। किसी के लिए भी कोई प्रबंध करना सम्भव नहीं था। सभी तो उस भीड़ में अपने आप के लिए एक भार हो रहे थे। वे भला इस मृतक का भार क्या उठाते ! सबों ने एक खाली नजर से एक दूसरे के खाली पेट को देखा और पृथ्वी पर नजर गड़ा ली।

वे सभी अपने बच्चों को भी तो इसी प्रकार घर छोड़ कर आए थे। अवश्य ही वे इस प्रकार मरे तो नहीं थे परन्तु उनकी जीवित अवस्था भी इस मृतक से कोई बहुत अच्छी नहीं थी। वे तो घर में जीवित रह कर भी कभी बिछौने, पर टूटी खाटपर, सोने का सौभाग्य नहीं प्राप्त कर सकते परन्तु यह कितना भाग्यवान था कि मर कर अच्छी गति पाने जा रहा है ! अजय उसके लिए टूटी खाट का प्रबंध कर रहा है !

जब इन लोगों में से कोई न बोला तो अजय कचहरी चला गया। वहाँ वकीलों, मुख्तारों, बड़े भारी जेबोंवाले मुकदमेबाज सेठों और लालाओं के सम्मुख उसने उस मृतक की अंतिम क्रिया के लिए चंदा

बटोरा। यों तो शायद कोई न देता पर 'मृतक' और 'अंतिम-क्रिया' यह दोनों शब्द ऐसे थे कि किसी ने अधिक बहस भी न की और झट अपनी जेब से 'कुछ' निकाल फेंका।

यह 'कुछ' केवल 'एकन्नी' या 'अधन्नी' से अधिक नहीं था पर इन 'कुछ' की संख्या ही काफी हो गई थी। कुछ लोगों ने तो अजय के सफेद खद्दर को देखकर ही दान दिया।

अजय ने देखा कि अब तो इतना पैसा आ गया था कि उसके लिए कफ़न भी खरीदा जा सकता था, एक अच्छी खासी अर्थी सजाई जा सकती थी।

अजय दोनों मुठ्ठियों में इकन्नी-अधन्नी भरे आ रहा था, तभी किसी ने ऊँची आवाज़ में पुकारा—

"अजय! कितना जुटाया?"

यह अजय के साथी बीरू की आवाज थी।

बीरू अच्छा कुरता, पाजामा और पेशावरी चप्पल पहने सामने खड़ा था। बीरू, अजय से ज्यादा तन्दुरुस्त और खुश दिखाई पड़ता था। अजय तो केवल समाज-सेवक था—एक अखबार के दफ्तर का नौकर और बिरू अपने पिता रायसाहब शिवदयाल के रुपयों और डनलप मोटर के बल पर समाज-सेवी कहलाता था।

बीरू का पूरा नाम वीरेंद्र नारायण था। उसने अपने को बीरू नाम से प्रसिद्ध कर रखा था; क्योंकि वीरेन्द्रनारायण नाम में बहुत अधिक हिन्दुत्व भरा था। किन्तु हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थक, वह किसी भी रूप में अपने आप को अधिक हिन्दू मानने को तैयार नहीं था।

"अजय, कितना जुटाया?" बीरू ने पुनः प्रश्न किया।

"करीब पांच रुपये।" कहते हुए अजय ने अपनी मुठ्ठियाँ खोल कर दिखा दीं।

"अरे इतना अधिक क्या होगा ?"

"क्यों, अर्थी के लिये बाँस, रस्सी, लकड़ी, घड़ा और......और भी जिस चीज़ की जरूरत पड़ जाए।"

"तो क्या इस मुर्दे की बरात निकालनी है ? या यह ससुराल जा रहा है ! हम लोगों में भावुकता और धार्मिक संकीर्णता इतनी भरी है कि क्या कहा जाए ! लाओ, लाओ यह पैसे हमें दो। हम प्रबन्ध करेंगे।"

कहते हुए बीरू ने आगे बढ़कर अजय की मुट्ठियों के पैसे हाथ में ले लिए। अजय सीधासाधा आदमी था। न इन्कार कर पाया, न लड़ पाया। ऐसे जन-सेवकों की आज कमी नहीं जो मेहनत के समय गायब रहते हैं और प्रबन्ध के समय, यश लूटने के समय, चट आगे आ जाते हैं ?

पैसों को अपने अधिकार में लेकर बीरू ने कहा—

"दो बाँस और, थोड़ी-सी रस्सी की जरूरत है, बस। एक मृतक के लिए इतना आडम्बर क्यों ?"

"आज एक बाँस भी एक रुपये से कम का नहीं मिलेगा और रस्सी.....।'

"कुछ भी नहीं खरीदना पड़ेगा। उधर अस्पताल के पीछे डॉक्टर के बंगले में बहुत से बाँस के पेड़ हैं। दो काट लेंगे और उस अहीर के यहाँ बहुत-सी पुरानी रस्सियाँ होंगी सो मांग लेंगे। पैसा क्यों खर्च किया जाय ?"

"और कम से कम तीन गज कफन.... ।"

"यह भी तुम्हारी सस्ती भावुकता का नमूना है। तुम नहीं जानते कि यह पैसा भी राख हो जाएगा। अरे, यों ही बाँस में बान्धकर इसे घाट तक तो पहुचाना ही है।"

"लेकिन ...फिर भी .....।'

बीरू ने आगे कहने भी नहीं दिया, "अरे, सब ठीक है। यों ही हो जायगा।"

"और इन पैसों को क्या करोगे ?" अजय ने पूछा—

"इन पैसों से मैं थोड़े से जीवित प्राणियों की भूख की अंतिम क्रिया करूँगा। देखो वह बूढ़ा आदमी कितना भूखा है और भूख से जलकर उसका पेट कितना पिचक गया है।" मृतक लड़के के पास ही बैठे एक वृद्ध की ओर इशारा करके बीरू ने कहा।

अजय ने देखा सचमुच वह बूढ़ा उस मृतक से भी अधिक दयनीय दिखाई पड़ता था। परन्तु वह सोच रहा था कि लाश का नाम लेकर पैसे इकठ्ठे किए गए हैं। उनका उपयोग उसी कार्य में न होगा तो लोग क्या कहेंगे ? अपनी आदत के विरुद्ध उसने बीरू के प्रति विरोध प्रकट करते हुए कहा—

"उन्हें खिलाने के लिए तुम दूसरा चंदा कर लो। मैंने यह चंदा उस मृतक के नाम पर किया था। यह उसी पर खर्च होगा।"

'यह मैं न सुनूँगा। इनको अधिक आवश्यकता है। वह तो मर ही चुका है।"

तभी एक वृद्ध तथा गम्भीर व्यक्ति ने आगे जाकर कहा—

"भाई लड़ो मत। सचमुच जो मर चुका उसे क्या ? उसे तो अब एक किनारे लगाना है, परन्तु जो भूखे हैं उन्हें खाना मिलना चाहिये।"

अजय कुछ न कर सका। बीरू एक दूकान की ओर चला गया। अजय सोचने लगा कि उसने तो इतनी मेहनत की और यश का भागी बीरू बन गया। इसी बात का उसे दुःख था। उसकी प्रमुखता का बीरू ने अन्त कर दिया। तभी भीड़ में से उसी भूखे बूढ़े ने खांसते हुए कहा—

"हां भाई, घाट दूर है। वहाँ तक जाना है। कुछ खाएँगे नहीं तो कैसे चलेगा ?"

तभी दो बाँस और थोड़ा-सा चावल लेकर बीरू आया। दो मुट्ठी चावल उस बूढ़े को दिया जिसने मशीन की तरह झटपट उसे पेट के हवाले किया। बाकी चावल अन्य भिखमंगों को देकर बीरू ने एक सहानुभूति कमाई। अजय खड़ा मुँह ताकता रहा।

उसी समय भीड़ से किसी ने अपने कंधे का अंगोछा उस मृतक पर डाल दिया। अंगोछा पड़ा, तभी भीड़ में एक कुहराम मच गया। एक कलूटा आदमी भीड़ चीर कर आगे आया।

कई लोग चीख उठे—

"कौन है तू, कौन है ?"

"मैं म्युनिसिपैलिटी का डोम हूँ। मैं लावारिस लाश ढोता हूँ।"

तभी एक दूसरे डोम ने डाँट लगाई—

"खबरदार, मैं पहले से आ चुका हूँ। अंगोछे पर हाथ मत लगाना।"

लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि आखिर अंगोछा पड़ते ही दोनों डोम कहाँ से प्रकट हो गए ?

बीरू ने सुना तो डांटा और फौरन ही आँखों-आखों में दोनों डोमों ने कुछ सलाह की और बाँस को बांधकर अर्थी बनाने लगे।

फिर अर्थी पर उस लाश को रखा गया। अब लड़के का चेहरा दिखा। वह अच्छा सुन्दर लड़का था, पर अब तक उसका चेहरा बिगड़ चुका था।

अब अर्थी उठाकर ले चलने की बारी थी। किसी ने भीड़ में से 'राम-नाम सत्य है' कहा और कई लोगों ने दुहरा दिया। पर किसी ने आगे बढ़ कर लाश नहीं उठाई।

दोनों डोमों ने अर्थी उठा ली।

उसी क्षण भीड़ में फिर कुछ गड़बड़ी मची। उसका मतलब यही था कि डोम ने लाश छू ली। अब कोई और कैसे छुए ?

परन्तु डोमों ने इसकी चिन्ता नहीं की। लाश पर पड़े नए अंगौछे की लालच में दोनों अर्थी को लेकर बढ़ चले।

यह जुलूस एक चौराहा भी न गया था कि एक एक कर के सभी लोग निश्चिन्त हो अपने अपने रास्ते लगे। अजय उदास पीछे पीछे बढ़ रहा था। बीरू ने आगे बढ़ कर उसकी बांह पकड़ी और समझौते के स्वर में मुस्कराकर कहा —

"आओ, उन्हें जाने दो। घाट तक तो पहुँच ही जाएँगे। चलो तुम्हें सिगरेट पिलावें।" कह कर एक पान की दुकान की ओर उसने रुख किया।

परन्तु वह बूढ़ा, भूख से जिसका पेट पिचक गया था, किसी प्रकार डोमों के साथ कदम मिलाता दौड़ा जा रहा था—

लगता था घाट तक जाने के लिए मृत बालक को अर्थी मिल गई। परन्तु वृद्ध को अपने भविष्य पर भरोसा नहीं था। इसीलिए वह उनके सहारे चल कर अपने आप घाट तक पहुँच जाना चाहता था।

सिगरेट जलाते हुए अजय और बीरू ने मौत के—लाश के—साथ दौड़ते उस बुड्ढे कंकाल को देखा और रूखी मुस्कुराहट के साथ शहर की ओर घूम चले।

फिर लाश चिता तक पहुँच पाई या नहीं या वह अँगोछा घरवालों के डर से घाट तक पहुँच पाया या नहीं, सो नहीं मालूम। काम की भीड़-भाड़ में भला कौन देखे ?

दूसरे दिन सबेरे ही शहर के दो समाचार-पत्रों में इस शोक-समाचार की दो तरह की खबरें छपीं। एक में छपा—

'एक · मृतक बालक कचहरी रोड के किनारे मरा पड़ा था। उसकी अंतिम क्रिया......पत्र के सह-सम्पादक श्री अजय कुमार ने की। कचहरी के कई कर्मचारी लाश के साथ घाट तक गए।'

दूसरे समाचार पत्र में छपा—

कचहरी रोड पर भूख से तड़प तड़प कर एक लड़का मर गया। श्री वीरेन्द्रनारायण ने बड़ी कृपाकर के उसके अंतिम संस्कार का सारा खर्च अपने ऊपर ले लिया। उनकी कृपा से ही दो दिन तक पड़ी सड़ती लाश किनारे लग सकी......।

जीजी

आज मेरे घर में चहल-पहल है, पर है वह बिलकुल बनावटी, दिखावटी—चाँदी के गहनों पर सोने के पानी की तरह या फूटी हुई ढोल की रोती-सी उदास आवाज़ की तरह! गहना है, कहते हैं सोना है, पहने हैं—पर मन अपनी पूरी शक्ति लगा कर चिल्ला-चिल्ला कर कहता है कि पानी भर सोना है—असली तो चाँदी है। यह ढोल है, बजाई जाती है, बजने के लिये। बजती है, पर कोई सुर नहीं मिलाया जा सकता।

ऐसी ही हम लोगों की खुशी है, दिखाने को उत्साह है, पर इस उत्साह और चहल-पहल के बीच सबों का जी रह-रह कर एक बार चिल्ला कर रो लेना चाहता है। पर कितने परिश्रम से हम उसे रोक रहे हैं, मन को रुकना ही पड़ेगा—संसार को दिखाना है। ऊपर सेउत्साह, मन में क्या है, यह कौन आता है भला जानने!

तो खुशी, उत्साह और चहल-पहल का विषय है, हमारे जीजा जी आ रहे हैं अपनी नई बहू के साथ। जीजा जी तो हमारे जीजा हैं पर यह उनकी नई पत्नी हमारी जीजी नहीं। जीजी के ही नाते हम इन जीजा जी से परिचित हुए थे, पर पिछले साल हमारी जीजी को मौत ने हम से छीन लिया। पर समाज का एक बन्धन, एक नाता, एक रिश्ता जुड़ चुका था—वही है। ये जीजा जी हैं, इनकी पत्नी जीजी हैं! सो आज यह नई जीजी आ रही हैं, पुराने जीजा आ रहे हैं।

जीजी नहीं हैं पर उनकी याद है, याद आती है। जीजा हैं, प्रत्यक्ष हैं, याद करना पड़ता है।

जो अपना था उसका अस्तित्व मिट चुका है, खो चुका है पर जो पराया है उसका अस्तित्त्व है और हम पर छाया है।

समाज का अपना नियम जो है। जड़ चाहे कट जाये पर पत्ते रहें तो उसे ही पेड़ कहो।

मुझे याद आती है, एक परदा उठता है, स्मृतियाँ ताज़ी होती हैं...

जीजी ने मैट्रिक पास किया था। मानो उनके जीवन का एक अध्याय समाप्त हुआ था। पिता जी ने एक विराम खींचना चाहा था, पढ़ाई समाप्त होनी चाहिये, जीजी की शादी की फिक्र करनी चाहिये, एक योग्य वर की खोज करनी चाहिये।

परन्तु हम सभी ने एक स्वर से कहा था—'नहीं, पढ़ाई चलेगी, शादी की फिक्र भी होगी, वर भी खोजा जायगा।' और किसी तरह नये वर्ष कालेज खुलते ही जीजी ने इन्टर की पढ़ाई शुरू की थी। मैं तब दसवें दर्जे में था। सच ही उस दिन माँ ने कहा था—'आखिर यह पढ़ाई-लिखाई किस काम की आवेगी? व्याह के बाद चूल्हा ही तो फूंकना है न!'

मैं तो इसका उत्तर न दे पाया था, परन्तु चौके में सचमुच चूल्हा फूंकती हमारी भाभी ने कुछ व्यंग से, कुछ उत्साह से, कुछ विरोध-भाव से ही कहा—'परन्तु माता जी, क्या पता, कहीं मेम साहब बनना हो, तब तो पढ़ाई ही काम आवेगी ?'

माँ तो जैसे जल कर रह गईं—'हाँ एक तुम मेम साहब हो, एक उसे होना बाकी है।'

भाभी ने कुछ कहा, पर माँ सुन न पाईं—उसके कहने में कुछ ऐसा ही भाव था जैसे वह कह रही हो—'मेरी तकदीर ही ऐसी थी नहीं तो हो ही जाती। मेम साहब भी औरतें ही होती हैं। और नहीं तो ... . ।'

'इस नहीं तो ...के आगे की बात आज मैं पूरी तरह समझता हूँ।

तो किसी तरह जीजी का कालेज जाना शुरू हो तो गया था, उनका बस पर जाना, मोटी अँग्रेज़ी की किताबें पढ़ना और रोज़ रोज़ नई धोती पहन कर जाना भी चलने लगा। फिर अब जीजी चप्पल की जगह सैंडल पहनने लगी थीं। सोलह या सत्रह रुपये की ही एक फाउन्टेन पेन भी खरीदी थी, जो अचानक एक दिन कालेज में कहीं खो गई तो पिता जी को फिर अवसर मिल गया था और चीख पड़े थे—'यह पढ़ाई तो बड़ी मँहगी साबित हो रही है। और ऐसी शिक्षा भी क्या—प्रतिदिन धुली धोती, रंगीन सैंडल और हर महीने खोने को कीमती फाउन्टेन पेन !'

पर किसी ने इन बातों का उत्तर न दिया। शायद ऐसी बात भी नहीं थी। परन्तु इन सभी बातों से जीजी का अक्सर मुँह कुम्हला जाता और माँ उसे निहार कर रो देतीं।

पर यह सब चलता रहा और चलती रही शादी की फिक्र भी ! शादियाँ कई जगह लगीं और आशा बँधी पर, जैसे किसी को नौकरी मिलने के समय होता है। दर्जनों आफिस से ऐसा आश्वासन मिलता है, मानो सब ठीक ही है, पर उसका अन्त होता है—बेकार की चिन्ता में। पिता

जी ने अपनी पूरी शक्ति खर्च करके कई लड़के देखे, शादी तय करने की कोशिश की पर पहले बहुत आशा उपज कर भी कुछ विशेष फल न निकला। बड़ी कठिनाई से मेरठ में एक लड़का दिखा। वह केवल इन्टर पास था और अब व्यापार करता था। पिता जी ने देखा—लड़का अच्छा है। अच्छे घर का है - और काम चलाऊ शिक्षा भी उसे मिल ही चुकी है, सो तय कर डाला।

मेरे मन को अजीब-सा लगा। जीजी तो खुद ही इन्टर में पढ़ रही हैं और उसके पति भी केवल इन्टर पास हैं। यह कैसे ? फिर वह परिवार हमसे कितनी दूर है। कहाँ मेरठ, कहाँ बनारस ! जीजी इतनी दूर जाकर हम से कैसे रह पावेंगी ?

लेकिन यह तो केवल मेरे सोचने का ढंग था, पिताजी और मां दूसरे ही ढंग से सोचते। उन्हें तो लगा जैसे यह सम्बन्ध सर्वोत्तम है। बहुत अधिक रुपये पैसे की बात नहीं करते। खाता-कमाता घर—परिवार है। अच्छे लोग हैं। हां, जरा पुराने विचारों के हैं, घर में पर्दा की प्रथा अभी है, पर इससे कुछ अन्तर नहीं आना चाहिये—ऐसी राय थी पिता जी की। पर मैं स्पष्ट देख रहा था कि यह पढ़ाई, यह मोटी मोटी किताबें, यह सैंडल और यह फैशन—इन सबों का अन्त हो रहा था मेरठ के उस दकियानूसी परिवार की पर्दा-प्रथा की सांस जीवित रखने को।

पर मेरे इस मूक विरोध का कोई असर व्याह की तैयारी पर न पड़ा और सब चलता रहा। जीजी सब समझती थीं पर वह भी कुछ न बोली थीं—शायद चाह कर भी नहीं बोल सकी थीं। लेकिन अन्तर-व्यथा को मैं उनके उदास चेहरे पर साफ पढ़ सकता था।

मुझे याद है, जीजी को लड़कपन में हम सब चिढ़ाते थे, 'तेरा दूल्हा मोटा होगा, देहाती होगा। गंवार होगा।'

तो वह बिगड़ती थीं, चिढ़कर, रोकर कहती थीं—'ऐसा क्यों, वह साहब होगा और खूबसूरत होगा। बिल्कुल सिनेमा-ऐक्टर की तरह !'

और हम कहते, 'तू सिनेमा स्टार बनना। क्यों? अच्छा क्या बनोगी, देविका रानी, दुर्गा खोटे या लीला चिटनिस ?'

जीजी चिढ़कर कहतीं, 'कुछ भी बनूं तुझे क्या ?'

और उस सपने को आज हम टूटते हुए देख रहे थे। शादी की जब से चर्चा चली जीजी बहुत उदास रहने लगीं। उनके चेहरे पर एक कालिमा प्रति क्षण गहरी होती जा रही थी। वह जितनी सुन्दर थीं पता नहीं क्यों उतना ही उदास या मायूस-सी होने लगी थीं। मैं सदा यही सोचता कि क्या जीजी इस तरह घुलती रहेंगी? मुंह क्यों नहीं खोलतीं और जो नहीं चाहतीं उसका विरोध क्यों नहीं करतीं? उनकी व्यथा को मैं तो पूरी तरह समझ रहा था परन्तु मां और पिताजी को इसका कुछ भी ख्याल नहीं था। वे तो अपने जिम्मे का एक बहुत बड़ा भार उठा रहे थे। उनकी समझ में इससे अच्छा वर भला कहाँ मिलता !

और फिर आये जाड़े के वे ठण्डे दिन जो हमारे गर्म दिलों को भी पाला बना गए। माघ की एक ठिठरती सुबह में हम लोग अपने जीजा का और बारात का स्वागत करने के लिए खड़े हुए। गाड़ी आई और जीजा जी उतरे। बहुत से बराती, बड़े बूढ़े, युवा बच्चे और कुछ बद-माश बराती छोकड़े भी।

जीजा जी एक धोती और कुरता और ऊपर से शादी वाला कीमखाब का चारजामा पहने थे। सिर पर मौर था। क्या शक्ल बनी थी ! मन में हंसी का फौव्वारा छूट पड़ने को मचल पड़ा परन्तु परिवार की मर्यादा और शिष्टाचार ने उसे दबा रखा था।

मैंने भी कल्पना की थी—जीजा जी एक सजीले नौजवान होंगे। जीजा जी की कल्पना के अनुसार फैशन के पुतले होंगे, और शायद

'अपटूडेट कपड़े, शेरवानी-पैजामा ! हां, पहनूंगा। पहन सकता हूँ। अगर, अगर तुम्हारी जीजी कहेंगी तो !'

अपनी समझ से उन्होंने कोई मज़ाक किया पर मुझे उनका यह भोंडा, देहाती मज़ाक बिल्कुल अच्छा न लगा। मन में तो आया कि कह दूँ कि मत पहनिये अच्छे कपड़े, आपके मुँह पर यही अच्छे लगते हैं साबुन से नहाने से कौवा कबूतर नहीं बन सकता। और जीजी भला क्यों कहेंगी— उनके तो सारे अरमान चकनाचूर होकर जाने कहां कहां बिखर गये हैं। जब उनका मनचाहा कुछ हुआ ही नहीं तो क्या कपड़े पहना कर ही संतोष हो जायगा ?

मैं घुट कर रह गया और वहां से हट आया। प्रत्यन्त कुछ न कह सका। समूची शादी के उस नायक को कुछ भी कहना मेरी शक्ति के बाहर की बात थी।

और इसके दूसरे ही दिन बारात की बिदाई हुई। बाराती जैसे हंसते खेलते आये थे वैसे ही लौट गए और साथ ही जीजी भी रोती-बिलखती चली गईं। उनकी रङ्गीन सैंडल और फैशनेबुल साड़ियां शायद किसी बक्स में सुरक्षित रख दी गई थीं। क्योंकि शायद अब उनका काम नहीं था और अब जीजी पहने थीं, बहुत कीमती जड़ाऊ बनारसी साड़ी और चप्पल ! उनके सुन्दर बाल, जिन्हें वे दिन भर सम्हालती रहती थीं, उस समय उस साड़ी और चादर के बोझ से दबे कराह रहे थे और दो बीता लम्बा घूंघट जीजी का दम घोंटे दे रहा था। रोते रोते उनकी आँखें भी सुर्ख हो गई थीं और नथुने तक लाल हो गये थे। जीजी के अन्तर के दुःख की यह तस्वीर देखकर मेरा भी मन रो पड़ा था। परन्तु हमारी भाभी इतने पर भी अपना ननद-भौजाई का रङ्गीन रिश्ता सार्थक करने से बाज़ न आईं। इस बिदाई की भीड़ भाड़ और बिछुड़न के रुदन के बीच धीरे से जीजी के कान के पास मुंह ले जाकर कह ही तो दिया—"जाओ मेम

साहब ! दूल्हा अच्छा शौकीन मालूम होता है। देखा है उसकी आँखों का सुरमा और मुंह पर सदा रचा रहने वाला पान - अरे, मोटर पर चाहे न चढ़ा कर घुमाए परन्तु बैलगाड़ी पर तो चढ़ाएगा ही ! क्यों मेरी बीबी !'

भाभी भी अजीब थीं, शायद उन्होंने भी अपनी समझ से अच्छा खासा मज़ाक ही किया था। परन्तु इससे जीजी का अन्तर मानों झुलस कर रह गया। कोई और दिन होता तो भाभी से जरूर लड़तीं पर इस चला-चली की बेला में भी क्या लड़ना या क्या जवाब देना !

और उस दिन पहली बार हम लोगों को बिलखता छोड़ कर जीजी चली गईं। पीछे सिर मोड़ कर देखा भी नहीं। न उन्हें मां की ममता की चिंता थी न मेरे बिलखने की ही फिक्र ! और हमारे ये जीजा जी हँसते हँसते साथ चले गये।

और एक ही दिन में इतनी बरसों से साथ रह कर जीजी पराई हो गईं और एक बिल्कुल अनजाना व्यक्ति हमारा परम आत्मीय बन गया—यानी दूसरे शब्दों में हमारे लिये जीजी का अस्तित्व खो चुका था और जीजा जी सब कुछ हो गए थे।

और जीजी, जीजा जी, बनारस, मेरठ सब नया पुराना हो गया। जिस दिन जीजी गई थीं घर भुतहा हो गया था, सूना, डरावना, भयंकर। परन्तु जल्दी ही हम उस सूनेपन के आदी हो गये और जीजी याद आने भर की एक वस्तु हो कर, मानस-पटल पर लिखी-सी रह गईं। जीजी और जीजा जी दोनों के बराबर पत्र आते थे। जीजा जी के पत्र में खुशियों और रङ्गीनियों की एक झलक होती थी, झंकार होती थी परन्तु जीजी की चिट्ठी रोती-सी, कुछ सिसकियों की तस्वीर होती थी—यद्यपि वह यही लिखती थीं कि मैं कुशल से हूँ, स्वस्थ्य हूँ और सब ठीक है। पर जब मैं खुद पत्र पढ़ कर मां को सुनाता होता तो मेरा मन कहता होता कि

सब गलत लिखा है। झूठ! और इसकी शंका पूर्ति करतीं मां जब पत्र सुन कर एक बार दो आँसू बहा देतीं।

गर्मियों की छुट्टियां हुईं। मेरे मन में आया कि जीजी के यहां जा कर देखा जाय कि वह कैसी हैं। मां से मैंने कहा, परन्तु जैसे वह पहले से ही तय किए बैठी थीं। उन्होंने कहा—'मैं तो सोच ही रही थी कि तेरा स्कूल बन्द हो और जाकर उसे लिवा ला। दो महीना रह लेगी। तबियत बहल जायेगी।'

और मैं मेरठ पहुँचा, परन्तु वहाँ जीजी को देख कर यही लगा कि न देखता जीजी को तो ही अच्छा होता! जीजी के बोल वही थे नहीं तो मैं अवश्य ही न पहचान पाता। गुलाब-सा चेहरा खो गया था और वहां पर एक मुर्दनी से ढँका हुआ सिर्फ चेहरा था। हाथ पाँव से इतनी दुबली और सांवली हो गई थी कि उसका वर्णन सम्भव नहीं। जो पहले हंसती फूल की क्यारी थी वही अब मेरे सामने कांटों की झाड़ी थी! बस।

जीजा जी से जीजी को भेज देने की बहुत प्रार्थना की परन्तु उनका केवल एक जवाब था कि खाने पीने की तकलीफ होगी, दूकान के काम में हर्ज होगा।

और इसका मेरे पास कोई उत्तर न था।

मन ही मन रो कर और जीजी की आंखों को भी एक बार फिर गीली करके मैं वापस आ गया। आकर मां से जब विस्तार पूर्वक बताया तो वह केवल यह कह कर रो पड़ीं—'बेटा, लड़कियां दूसरे के घर के ही लिए होती हैं। जिस दिन वह मेरे घर से गई, मैंने तो उसका मोह ही छोड़ दिया।'

पता नहीं, मां ने यह बात अपने को सांत्वना देने को कही थी या मन से कही थी कौन जाने? पर काश, मैं भी अपने को इतना कठोर बना पाता!

एक बार जीजी का पत्र आया कि उसकी तबियत ठीक नहीं रहती। पेट की कुछ शिकायत है और वह बहुत कमज़ोर हो गई है। खाट से लग गई है। मां की याद बहुत आती है।

मां ने सिसक कर मुझ से कहा था—'मैंने तो उसी दिन उसे मरी हुई समझ लिया था, जिस दिन वह ऐसे के साथ ब्याही गई। पर जा बेटा एक बार एक बार देख आ और अगर भेजें तो लिवा भी लाना।

पर माँ की बात कितनी लगी कि हमारे जाने के पूर्व ही तार से हमें सूचना मिल गई कि आपरेशन सफल नहीं हुआ और जीजी मर गईं !

मेरे और मां और बाबूजी के लिए हाथ मलने के अलावा कुछ न रहा—मां रोईं, मैं रोया परन्तु बेचारे पिता जी रोने न पाए !

इतने साल तक इतने प्यार से पाली हुई बेटी दूसरे के यहां क्या सुख से मर भी पाई होगी ?

यही था जीजी के महत्वहीन जीवन का संक्षिप्त इतिहास !

और जीजी की मौत के बाद करीब सात महीने बाद ही एक दिन मां फिर उसे याद करके रोईं जिस दिन मेरठ से तार आया कि जीजा का दूसरा ब्याह दिल्ली में हो रहा है।

तब मैंने जाना कि पति और भाई में क्या भेद होता है एक नारी के जीवन में। जीजी का मैं भाई था और वे पति। जीजी मर गईं तो जीजा को दूसरी पत्नी मिल जाएगी परन्तु मुझे दूसरी बहन नहीं मिलेगी।

और आज जीजा जी उसी दिल्ली वाली नई बहू के साथ आ रहे हैं। सुन कर मैंने मां से पूछा कि ये लोग क्यों रुलाने के लिये फिर आ रहे हैं, तो मां ने केवल यही कहा कि यह एक रस्म होती है। दूसरी पत्नी पहली के मायके पांव फेरने जाती ही है।

मैंने चुपचाप सुन लिया। फिर सोचा, जीजी की मौत के बाद जीजाजी

ने जिस लड़की से ब्याह किया है—क्या उसकी तक़दीर भी जीजी जैसी ही है ?

परन्तु इस प्रश्न का उत्तर गढ़ने की फ़ुर्सत हमें नहीं थी। जीजाजी के आने का समय हो गया है—मैं बैठक में बैठ गया।

और फिर जिस घड़ी से मैं डर रहा था वह जब सिर पर आ सवार हुई तो जैसे डर की सुध ही न रही।

जीजा जी का रंग ढंग देख कर मैं दंग रह गया। दिल्ली की शादी ने उन्हें बिल्कुल बदल डाला—धोती कुरता वाले जीजा जी जो मेरे कहने पर कि 'अप-टू-डेट' होइये, हमसे मज़ाक करते थे—आज पहने थे बुशशर्ट, पतलून, बूट !

सामने देखा तो क्षण भर हत्बुद्धि-सा खड़ा रह गया। और देखा एक लड़की—वह नई जीजी-भीतर आंगन में चली गई। मेरा जी धड़क रहा था। जीजा जी को बैठाया और दोनों का अन्तर सोचने लगा—धोती कुरता वाले जीजा और ये बुशशर्ट वाले···!

जीजी ने शायद नहीं कहा होगा—यह सब पहनने को तभी तो जीज़ी के जीवन में कभी नहीं पहना था। पर शायद दिल्ली की ससुराल का रंग चढ़ गया था !

और मैं भीतर आया। आँगन में खड़ा हुआ था—वह अप-टू-डेट महिला हाथ जोड़ कर पुकार उठी—'भैया नमस्ते !' मुँह तो न खुला, कण्ठ न फूटा पर हाथ उठ गये। और मैंने साफ देखा कि जीजी जिस बनाव शृङ्गार को घर छोड़ कर गई थीं—यह तो उसके आगे खड़ी हैं। पर मुझे जब उसने भैया पुकारा तो लगा मेरी जीजी ही पुकार उठी हैं।

मुझसे सहा न गया। भाग कर अपने कमरे में आ गया और खाट पर औंधा गिर कर सोचने लगा कि कैसे इसको मैं जीजी कहूँ, जो आज यों ही जीजी बन गई ! न माँ के पेट से पैदा हुई न लड़कपन में साथ

खेली, न कभी खिलौनों के लिये झगड़ा किया। और फिर कैसे इसे बहन-जीजी कहूँ।

तभी भाभी आईं। रोती हुईं मेरा हाथ पकड़ कर उठाती हुई बोलीं 'देखा मेम साहब को!'

और अब मुझसे न सहा गया। उनके आँचल में मुँह डाल कर रो पड़ा—फूट कर!

भाभी ने समझाया—'यही दुनिया है। अपनी जीजी का नाम निशान नहीं, पर जीजा की पत्नी हैं इससे जीजी कहना पड़ेगा—चाहे जो भी हो।'

फिर मैंने आँसू पोंछ लिये—मन में लगा कि माँ को जीजी की सैण्डल और साड़ियाँ इसे ही दे देनी चाहिये। वे चीजें जीजी की थीं इससे जीजी ही पहनें। जीजी! हाँ,—जीजी। चाहे वह पराई क्यों न हों—जीजा की पत्नी हैं—मेरी जीजी ही हैं।

दो पहलू

जनवरी का महीना। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। इन्दर जब सोकर उठा तो देखा कि धूप निकल आई है। अवश्य ही आठ के आस पास का समय होगा। रात बहुत देर से सोया था। कल शाम को उसे एक मीटिंग में जाना पड़ा था। शहर में किराए के मकानों में रहने वालों ने अपना संगठन किया है मकान-मालिकों द्वारा प्रति मास किराया बढ़ाने की प्रवृत्ति के विरुद्ध मोर्चा तैयार किया है, यद्यपि मकान से निकाल दिए जाने का डर नहीं है—सरकारी क़ानून है कि कोई मकान मालिक न तो किसी को मैजिस्ट्रेट की आज्ञा के बिना निकाल सकता है और न नया किराएदार रख ही सकता है।

सो कुछ साम्यवादियों के प्रयत्न से यह 'किराएदार-संघ' की स्थापना हो पाई है! यों तो इन्दर नहीं चाहता था और उसने मीटिंग में बहुत ना-नुकुर भी किया, परन्तु लोगों ने उसे ही संघ का मंत्री चुन लिया। जन-साधारण की राय थी, भला वह कैसे टालता!

मीटिंग से लौटा तो उसने अपने कंधों पर एक बोझ का अनुभव किया। वह एक साधारण-सा क्लर्क है—महंगाई लेकर सत्तानबे रुपए

मासिक मिलते हैं। इकन्नी उसमें भी उसे लौटा देनी पड़ती है टिकट के, जिस पर वह हस्ताक्षर करता है यह पक्का करने के लिए कि हां, पूरे रुपए मिल गए।

वह गाड़ी के पहिए की तरह घूमते हुए दिन और रात को अपने जीवन में नहीं खपा पता --दिल को बहुत समझा कर भी एक अभाव का अनुभव करता है। कुछ करना चाहिए—यह तो निश्चय ही है कि जिसने क्लर्क के नाम से आफिस की कलम पकड़ी नहीं कि उसका जीवन बिक जाता है उसी पर। कोई प्रगति नहीं, तरक्की की कोई आशा नहीं। बहुत हुआ तो 'बड़े बाबू' बन गये।

सो, इस संघ का भार उठा कर इन्दर को संतोष ही मिला। इसी प्रकार के कुछ काम वह सदा ही करता रहेगा, तभी जीवन कट सकता है। दूसरी बात यह भी थी कि मकान-मालिकों से लड़ने के लिए अब एक टट्टर मिल गया है जिसके पीछे से वह अधिक कठोर और मौके की चोट कर सकेगा।

अंगड़ाकर उसने चारपाई छोड़ दी। चारपाई एक बार मचमचा उठी—मानो दिनभर के लिए विदा दे रही है। नहा कर छत पर खिंचे तार पर गीली धोती डालती हुई इन्दर की पत्नी ने, जिसके दांत सर्दी से किटकिटा रहे थे, घूमकर कहा—"देखो न खाट कितनी ढीली हो गई है—रोज कहती हूँ, पर तुमसे नहीं होता कि जरा कस डालो। योंही लापरवाही से तो जल्दी टूटती भी हैं।"

इन्दर ने सुना तो, पर बात उड़ा देने के इरादे के कहा –"और हमने भी सौ बार कह दिया कि इतने सबेरे न नहाया करो। बिना नहाए भी खाना बनाया जा सकता है! हमें और तो कुछ नहीं, केवल नन्हे की चिन्ता है कि कहीं उसे तुम्हारे कारण सर्दी न लग जाय।"

"क्यों, आज नन्हें की तुम्हें क्यों चिन्ता हो गई?" पत्नी ने शब्दों को और अधिक कटु बना कर कहा।

इस 'क्यों' का भी भला कोई उत्तर हो सकता है ? एक नारी, जो सदा अभाव के ही सहारे जीवन के थपेड़े सहती रही, उसके दिल में जाने कितने घाव होंगे और घाव जब छू जाते होंगे तो पीड़ा होती ही होगी। शादी हुए ग्यारह वर्ष हो गए पर अब तक उसे 'सुख' के संबंध में कोई मधुर अनुभव न हो पाया। हां, शब्द सुना है और कल्पना की है। तभी लगा जैसे यौवन के दिन कमरों की दीवारों में सिमटे हुए आ रहे हैं। दृष्टि उठा पत्नी की ओर देखा, पीठ पर धोती फट गई है। इस सद्यःस्नाता की पीठ पर से सूखता हुआ गौर वर्ण जैसे कांप उठा ! कितनी जगह से तो यह धोती सिली गई है ! जब वह फटने लगी है तो कोई कहां तक सिले ? पहनने वाले को जैसे मशीन होना था। हां मशीन, मशीन हो तो सकती थी !

सिलाई की मशीन के लिए पत्नी ने जाने कहां-कहां से एक-एक दो-दो करके रुपए जमा किए थे और उनकी तादाद पोने दो सौ हो गई थी। लेकिन उसे भी पिछले वर्ष इन्दर ने खर्च कर डाला !

पत्नी की बातों को महत्व देकर वह मस्तिष्क का बल और समय नष्ट नहीं करना चाहता। वह उठा और अपने काम में लग गया। पत्नी ने चाय बनाई तो एक प्याला पीकर उसने अपने को अधिक स्वस्थ अनुभव किया। नन्हें भी अब तक जाग चुका था। उसे गोद में उठाकर इन्दर बाहर चला गया। पड़ोस में एक वकील साहब रहते हैं - वहीं ताजा अखबार पढ़ने।

लौटा तो नौ बज चुके थे। पत्नी घर में चूल्हे से उलझ रही थीं। लकड़ियों ने असहयोग कर रखा था। शायद उनके हृदय में अभी रस था और जब हृदय में रस होता है तो वह सुलग चाहे जायँ, पर जल नहीं सकतीं।

इन्दर ने नन्हे को एक ओर बिठा दिया। नन्हें चीख उठा वह चाहता है कि इन्दर उसे सदा बाहर ही घुमाता रहे। "अब चाहे जितना

रोए, मुझे देर हो रही है।" कह, खूँटी पर से गंदा अंगौछा उतार, कंधे पर डाल पाइप की ओर बढ़ गया।

नहाकर जब वह पायजामा और गंजी पहने हुए बाल काढ़ने के लिए शीशे के सामने खड़ा हुआ और उलझे बालों में कंघी फँसी तो एक दर्द हो उठा। कंघी खींची तो बालों की कुछ लटें माथे पर झुक गईं। इन्दर ने एक कम्यूनिस्ट नेता की तरह सिर को एक झटका दिया और कूद कर बाल पीछे जा लगे।

बाल काढ़ते हुए इन्दर सोच रहा था - तेरह रुपए इस मकान का किराया है, वही क्या कम है? ऊपर से मकान मालिक ने अगले महीने से तेईस लेने की बात कही है। हद हो गई इस बेईमानी की। भला वह तेईस रुपये कहाँ से दे सकता है? फिर यह मकान, जिसमें केवल दो खाट का आँगन, दो कमरे और एक छोटी-सी छत है। इन्दर ने सोचा वह एक 'डेपुटेशन' लेकर मैजिस्ट्रेट से मिलेगा और मकान-मालिकों के दिमाग ठीक हो जाएँगे!

सत्तानबे रुपये का क्लर्क, मैजिस्ट्रेट से मिलेगा— बड़ी बात है।

खाना खाकर आफिस के लिए बिल्कुल तैयार हो जब वह चलने को हुआ तो नन्हे को गोद में लेकर पत्नी सामने आ खड़ी हुई और कहा — "देखो तुम बिल्कुल ही चिन्ता नहीं कर रहे हो और मैं कहती हूँ कि जाड़ा इतना पड़ता है कि सहा नहीं जाता। सुबह-शाम तो जैसे बरफ गिरती है। नन्हे का कोट अब तक नहीं बना।"

"क्यों वह रुई का कोट?"

"रुई का कोट! अरे वह पहनने लायक रह कहाँ गया है? जाने कैसा सिला गया था कि रुई का पता हीं नहीं लगता। किसी गरम कपड़े का एक कोट सिला दो। पन्द्रह रुपये में हो जायगा।"

नन्हे ने इन्दर को देखकर उसकी ओर लपकने का उपक्रम किया।

इन्दर ने प्रेम से उसके कंधे पर अपना हाथ रख दिया—नन्हे चुप हो रहा। फिर पत्नी की बात के उत्तर में इन्दर ने कहा—"अच्छी बात है, अब की तनख्वाह मिलने दो, अवश्य बन जायगा।"

इस उत्तर से पत्नी संतुष्ट न हुई। उसका चेहरा लटक गया। एक कालिमा छा गई। यह नहीं कि इन्दर की कठिनाइयों को वह न जानती हो! पर इन्दर के इस उत्तर को उसने उसकी टालने की आदत में शामिल कर लिया है।

पत्नी को उदास देख कर इन्दर ने पूछा—"तुम उदास क्यों हो गईं?"

"क्यों क्या, मेरी तो क़िस्मत ही फूटा है। परसाल भी तो इसी प्रकार की सर्दी थी और प्रबन्ध ठीक न होने के कारण ही तो लल्ला जाता रहा!"

ये शब्द इन्दर को बड़े कठोर लगे। एक भय से वह सिहर उठा—नन्हे के कंधे पर रखा हाथ काँप गया। बात सच है। लल्ला उसका बड़ा लड़का था। इस नन्हे से दो वर्ष बड़ा। सचमुच ठीक प्रबन्ध न कर सकने के कारण ही पिछले वर्ष वह उसे खो चुका है। कितना प्यारा लड़का था वह! एक झटके से उसने हाथ नीचे कर लिया और पत्नी की ओर देखा—उसकी आँखें सजल थीं। पत्नी के इन शब्दों ने इन्दर के हृदय को बुरी तरह झकझोर दिया था—अब आँखों के आंसू से तो उसे लगा कि यदि वह वहाँ अधिक रुका तो अवश्य ही रो पड़ेगा। परन्तु रोकर वह पत्नी को और व्यथित करना नहीं चाहता था। निचले ओंठ को दांतों में जोरों से दबाया, मानो इससे बड़ी शक्ति मिलती हो! वह तेजी से बाहर निकल गया।

आफिस के रास्ते पर बढ़ता हुआ इन्दर बुरी तरह हृदय में व्यथा संजोए मस्तिष्क को बल दे रहा था। पत्नी की आशंका निराधार नहीं है।

अगर इन्दर इसी प्रकार लापरवाह रहा तो आश्चर्य नहीं कि यह हिंसक सद लल्ला की तरह नन्हे को भी उनसे छीन ले ! जब लल्ला मरा था तो नन्हे दो महीने का था। पर यदि नन्हे को भी कुछ हो गया तो वह कहीं का न रहेगा। लल्ला का वह सरल और गुलाब-सा हँसता चेहरा इन्दर को बार बार दिखाई पड़ रहा था। और अन्त में इन्दर ने निश्चय कर ही लिया कि कल तक वह अवश्य ही कहीं न कहीं से पन्द्रह रुपये का प्रबन्ध करेगा, चाहे कर्ज ही क्यों न लेना पड़े ! पर कोट अवश्य बनेगा। बच्चे यों खोने को ही नहीं मिलते।

और आफिस पहुँच कर इन्दर ने अपनी मेज पर उत्तर देने के पत्र, टाइप करने के 'सरक्यूलर्स' का जो ढेर देखा तो होश ठिकाने आ गए। लल्ला की याद भी भूल गई और नन्हे के लिए पन्द्रह रुपयों का प्रबन्ध करना भी टल गया। एकाग्र होकर उसे अपनी मेज पर सिर झुका देना पड़ा।

क्लर्क का जीवन जो है। इमली का वृक्ष, पत्तियाँ चाहे जीवन का परिचय दे दें, पर तना ! वह तो काठ है—पत्थर जो केवल इस बड़ी इमारत के भार को संभालने के लिये है।

इन्दर इस फेर में था कि तीन बजे तक उसे अवश्य ही चिट्ठियाँ पूरी कर लेनी है ताकि आज की ही डाक से रवाना भी की जा सकें। और ज्योंही, उसने चिट्ठियों को पूरा करके सामने से टाला कि चपरासी ने आकर कहा, बड़े साहब बुला रहे हैं।

'बड़े साहब' का बुलावा किसी क्लर्क के लिये कभी शुभ नहीं हुआ। बड़े साहब इस फर्म के मालिक के ज्येष्ठ पुत्र हैं। एक बार विदेश-यात्रा भी कर आये हैं। तभी से 'बड़े साहब' कहे जाते हैं। सुनकर, इन्दर की कलम रुक गई। वह उठा, दिल भी धक्-धक् कर उठा—कुर्सी को तनिक

पीछे खसका कर वह आगे चला तो आस पास की मेजों पर झुके सभी क्लर्कों की दृष्टि उसी पर केन्द्रीभूत हो गई।

कांपते हुये इन्दर ने बड़े कमरे में पाँव रखा तो लगा—भूखा शेर अपने शिकार पर टूट पड़ने को तैयार बैठा है। मेज पर पड़ी चेक-बुक की ओर इशारा करके शेर चीख उठा—"क्यों, यह चेक तुमने लिखा ?"

"हाँ, साहब !"

"तो चेक लिखने में तुमसे हमेशा गलती क्यों होती है ? देखो, यह यहाँ तुमने तीन सौ पचास रुपया लिखा और यहाँ अंकों में केवल तीन सौ पन्द्रह ! ऐसा क्यों ? क्या होश से काम नहीं करते ?"

इन्दर का सिर झन्ना उठा !

कांपते हुए शिकार के सामने जैसे शेर फिर गरज उठा—बोलो !"

इन्दर भला क्या कहता !

"देखो, यह तीसरा चेक तुमने खराब किया। जानते हो चेक खराब होने से 'फर्म' की इज्जत पर कितना बट्टा लगता है ? हमने जिन्दगी में अभी तक एक भी चेक खराब नहीं किया।" कहते हुये बड़े साहब ने लाल स्याही से चेक पर 'कैंसिल' लिखा और उसे इन्दर के आगे डाल दिया—

"ले जाओ और दूसरा लिखो, होश से।"

कांपते हाथों से इन्दर ने चेकबुक उठाई ! "मैंने जिन्दगी में अभी तक एक भी चैक कभी खराब नहीं किया", ये आदर्श शब्द इन्दर के कानो में भनभनाते रहे। वह बाहर निकला तो सुना, साहब कह रहे थे—"ये लोग सचमुच बहुत गैर जिम्मेदार हैं।"

कौन समझावे इस बड़े साहब को कि अकेले इन्दर पर उनसे अधिक जिम्मेदारी है और चेक में कुछ गलत लिख जाना गैर-जिम्मेदारी का सूचक नहीं।

मन-ही-मन यही सोंचता, गुनता और कुढ़ता हुआ इन्दर अपनी मेज पर बैठ कर बहुत सम्हाल कर, पचास और पन्द्रह का ख्याल रख कर नया चेक बना रहा था।

शाम को सभी के चले जाने के बाद इन्दर काम समाप्त कर पाया। उठा तो घड़ी में साढ़े पाँच बजे थे। थके-माँदे, हारे सिपाही की तरह वह चला जा रहा था। आफिस के काम के बोझ ने उसके मस्तिष्क से मैजिस्ट्रेट के यहाँ डेपुटेशन ले जाने वाली बात भगा दी थी।

चौक का चौराहा पार कर वह घर की ओर जाने वाली बड़ी सड़क पर मुड़ते ही आगे लाला बनवारीलाल बजाज की दुकान है। लाला मानो बैठे इन्दर के लिए राह ताक रहे थे। देखते ही पुकार उठे।

इन्दर मन ही मन कामना कर रहा था कि आँखें चार न हों, पर जब पुकार कान में पड़ी तो पाँवों में शिथिलता आई और घूमना पड़ा। दूकान की दो ही सीढ़ी चढ़ पाया था कि लाला ने कहा—"क्या हाल है बाबू! दूसरा 'कोटा' भी अगले सप्ताह आ जायगा और आपने रुपये नहीं भेजे।

हाय रुपया! रुपया!! कितना रुपया वह पाये कि सब का मुँह बन्द कर सके। यह मेहरबानी थी लाला की जो कोटा का कपड़ा उधार दे देते हैं। लाला को थोड़ा स्नेह था इन्दर के साथ। झेंप मिटाने के लिए इन्दर ने शीघ्र ही कहा—"हाँ मैं भूल गया था – जरा देखिए तो कितने हैं। शीघ्र ही भेजूँगा।

और लाला ने झट अपने मुनीम को हुक्म दिया—"जरा बाबू क खाता देख लेना।"

गले का थूक इन्दर घोंट भी न पाया था कि मानो मुनीम को रटा था, सो कहा—"साढ़े बीस।"

"बीस रुपये आठ आने, इन्दर बाबू।" लाला ने अधिक स्पष्ट करके कहा।

"अच्छा जल्दी ही भेज दूँगा।" दाँत निपोर कर अपनी बेबसी छिपाने का प्रयत्न करते हुए इन्दर ने कहा और नमस्कार करके चल पड़ा।

रास्ते में उसने यह निश्चय कर लिया कि दो एक दिन में ही 'एडवान्स' लेकर पन्द्रह रुपए कोट और साढ़े बीस बजाज को दे देगा। आज तो चेक ने ही वातावरण खराब कर दिया था, नहीं तो अवश्य ले लेता। इन्दर ने फिर हिसाब जोड़ा—पन्द्रह और साढ़े बीस, साढ़े पैंतीस का हिसाब साफ है।

फिर अपने घर के पास पहुँचा तो गली की मोड़ पर बड़े फाटक वाली कोठी के सामने देखा, गरीब भिखमंगों की बड़ी भीड़ जुटी है। एक अपूर्व कोलाहल था। यह सेठ हीरालाल की कोठी है। करोड़पति आदमी थे—लड़ाई के पूर्व। अब शून्यों की गिनती बढ़ती जा रही है। अथाह धन है। इन्दर ने इस सेठ को केवल दो बार देखा है, यद्यपि उस गली में रहते उसे साढ़े चार वर्ष हो चुके। तीन बार तो उसने गवर्नर साहब को देखा है। दो बार तो पहली जनवरी की परेड में और एक बार स्थानीय खैराती अस्पताल के उद्घाटन के अवसर पर। लक्ष्मी की इन पर कृपा है, वह इन्दर के लिए बचपन में पढ़ी परी देश की कहानी की तरह काल्पनिक है। पर हां, एक चीज इन्दर को मालूम है जिसके लिए सेठ प्रत्येक क्षण व्याकुल और चिन्तित रहते हैं। सेठ की अतुल सम्पत्ति और इतनी बड़ी रियासत का भावी मालिक कोई नहीं। सेठ के पास कोठियाँ हैं, पर दीपक नहीं—सेठानी की 'बिशाल' कोख खाली है।

हर वर्ष सेठ लाखों खर्च करते हैं—होम यज्ञ में, पूजा-पाठ में, दान-

दक्षिणा में, आशीर्वाद प्राप्त करने में, पर हाथ कुछ भी नहीं लगता। आशा की एक किरण भी कभी दिखाई न दी। और अब हार कर सेठ को मान लेना पड़ा है कि सब को सब सुख नहीं मिलता। लक्ष्मी-सुख है, पर पूतहीन हैं।

इन्दर को याद आया—कम्पनी बाग के फाटक से जब वह गुजर रहा था तो देखा था कि एक पैन्टकोट-धारी बाबू साहब को वह भिखारिन बुरी तरह सता रही थी। वह एक तो स्वयं भीख मांग रही थी, शरीर पर कपड़े केवल संतोष के लिये थे और साथ ही अपने दुर्भाग्य के संग वह तीन प्राणियों का दुर्भाग्य और जोड़े थी। एक नौ वर्ष की लड़की, एक पांच वर्ष का बालक और गोद में भी एक - पता नहीं लड़का या लड़की। देख देख कर वह साहब चिढ़ रहे थे और वह भिखारिन रटे जा रही थी—

"भला होगा बाबू बच्चें भूखे हैं।"

"तो मैं क्या करूँ ?"

"कुछ दे दो दाता !"

"क्यों दूँ, जाकर कहीं काम कर।"

"बच्चे भूखे हैं।"

"पैदा क्यों किया था जब खिलाने का प्रबन्ध न था तो ?"

भिखारिन इसका भला क्या उत्तर देती! इन्दर को लगा कि यदि यहाँ वह साहब मिलें तो वह बता दे कि बच्चे पैदा किए नहीं आते। इस सेठ ने तो बहुत-सा खाने पहनने का प्रबन्ध कर रखा है, पर इनके कोई खाने वाला नहीं।

संसार के इस अटपट नियम पर उसे हँसी आ गई। क्षण भर के लिए जैसे आफिस की कटुता भिखमंगे के धन की भाँति नष्ट हो गई।

पूछा तो पता लगा कि कल से माघ का स्नान शुरू है। सेठ जी

गंगा किनारे रहेंगे—पूरे माघ भर। आज गरम कंबल बंटेगा गरीबों को! शायद उनके रोएँ गरम हों तो उनके आशीर्वाद से सेठानी अपनी गोद में लाल खिला सकें।

सोचते ही उसे नन्हें की याद आ गई और सेठानी का किस्सा वहीं छोड़कर वह जल्दी से आगे बढ़ा।

तीन मकानों के बाद उसका घर है। दूर से ही देखा कि यम सा वह मकान-मालिक का जमादार दरवाजे पर अड़ा है। सब्र की हद होती है—आज बीस तारीख को भी किराया नहीं पहुँचा। मकान-मालिक का क्या दोष? पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ जब जमादार ने आगे बढ़ झुक कर सलाम किया।

"क्या बात है जमादार? किराया चाहिए न!"

"अरे किराए की कौन जल्दी है, बाबू!" जमादार ने कहा और इन्दर ठिठक कर देखने लगा। शायद यह वह जमादार नहीं जो दस तारीख तक किराया न पहुँचने पर घर खाली कर देने की बांग देता था। आज यह परिवर्तन क्यों? अभी तो भारत में मजदूर राज कायम भी नहीं हुआ।

इन्दर को कुछ बल मिला; पूछा—

"फिर कैसे आये?"

जमादार पेट खुजलाने लगा। कुछ कहना चाहता था, पर हिचकता था।

"क्या बात है कहो।" इन्दर ने धैर्य बँधाया।

"साहु जी ने कहा है कि आप किराएदार संघ के मंत्री हुए हैं। आपका किराया वही लगेगा जो पहले था—जरा दूसरों को दावे रहिए।"

लोहे को लोहा ही काटता है। इन्दर मुस्करा पड़ा। उसकी इस

मुस्कान ने उसकी सारी थकान धो डाली। केवल मंत्री बनने भर का यह उपहार! उसे केवल तेरह ही देना पड़ेगा।

"साहु जी से कहो कि चिन्ता न करें।" और आज सिर ऊँचा करके वह घर में घुसा। सोच रहा था—किराएदार संघ बनने से जमादार ने सलाम किया—क्या क्लर्क संघ बना लें तो बड़ा साहब नरम पड़ेगा!

और दूसरे ही क्षण उसने जोड़ा—पन्द्रह रुपये का कोट। साढ़े बीस का बिल बजाज का और तेरह रुपया किराया— सब साढ़े अड़तालिस। अगले महीने की आधी कमाई एडवांस। और इधर ऊपर चढ़ा।

कमरे में जो पहुंचा तो जी धक् से रह गया। देखा, पत्नी मलिन मुख, उदास, गोद में नन्हें को लिए बैठी है। पूछा—"क्या बात है?"

"कुछ नहीं, नन्हे का बदन गरम है। दोपहर से—शायद हरारत है।" आगे बढ़ कर उसने नन्हे की कलाई टटोली, और उदास हो गया। बताने की इच्छा रख कर भी वह न बता सका कि कल उसने 'एडवांस' लेने का निश्चय कर लिया है और किराया अब न बढ़ेगा। भारी दिल के साथ वह वहाँ से हट कर खिड़की पर आ खड़ा हुआ।

विचार मग्न इन्दर आफिस के कपड़े पहने ही खिड़की पर खड़ा सड़क का जन-कोलाहल देख रहा था और रह रह कर मन में निश्चय कर रहा था कि कल कोट अवश्य आ जायगा। बना बनाया ही खरीद लेगा। लेकिन घूमकर उसने पत्नी का मुँह जो देखा तो बड़ी करुणा उत्पन्न हुई—वह फिर सड़क की ओर देखने लगा।

ऊपर आकाश था—नीला, अपूर्व नीला। मन प्रसन्न होता तो यह सुहावना लगता। पर भारी मन लेकर देखने से वह भी भारी लगा।

इतने में उसका ध्यान उस ओर खिंच गया। दो भिखमंगिनें सेठ के यहाँ से कम्बल पा फूली नहीं समा रही थीं। दोनों कम्बल लिए खुशी खुशी आगे बढ़ीं। एक तो उसे बार बार उलट-पुलट कर देख रही थी—दूसरी ने उसे अपने बच्चे के चारों ओर लपेट दिया। इन्दर के दिल में एक भावना जगी। यदि वह भी भिखमंगा बन कर जाय तो सेठ के यहाँ से एक कम्बल मिल जायगा और नन्हें की सर्दी बचाने में सहायता मिलेगी!

पर वह भीख नहीं मांग सकता। वह समाज की गाड़ी में दूसरे दर्जे का यात्री है · धनवान और निर्धन के बीच का एक अधकचरा समझौता जिसकी कहीं पूछ नहीं!

तभी घंटा और घड़ियाल की ध्वनि ने उसकी दृष्टि को कुछ कदम और आगे ला जमाया। किसी सौभाग्यवान बूढ़े ने इस लोक से विदा ले ली है। उसी की खुशी में यह उसकी अर्थी का जुलूस था। एकाएक बीस-पच्चीस डोम के बच्चे—केवल लँगोटी पहने उस पथ पर लोटने लगे—कुछ जल्दी से बीन लेने को। पैसे लुटाए जा रहे थे। मर कर भी वैभव का प्रदर्शन!

घाट तक पहुँचते पहुँचते डोम के ये बच्चे अवश्य ही दो-ढाई रुपये के पैसा जमा कर लेंगे। इनका भी जीवन है – यह व्यापार है।

फिर एक बार नन्हें को माँ की गोद में आँख बन्द किये पड़े हुये देखा। – काश, वह भी कंबल ले आता या दौड़ कर सब पैसे बटोर पाता जो शव के रास्ते में बिछ रहे हैं।

पर वह वैसा नहीं कर सकता—वह उनसे बड़ा है न!

इन्दर ने गौर किया—

वह सेठ है जो औलाद के लिए लाखों फूँक रहा है।

वह मृतक है जो मर कर भी वैभव का प्रदर्शन करता है।

वह भिखारिन है जो कंबल के लिए अपने आशीर्वाद मुट्ठी खोल लुटाती है।

वह डोम के बच्चे हैं जिनके खुश होने से मृतक को सद्गति मिलती है।

और उनके बीच की कड़ी यह क्लर्क इन्दर है जिसे कल आधी तनख्वाह एडवांस लेनी है।